हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान

डॉ० सम्पूर्णानन्द

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान

•

सम्पूर्णानन्द

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–२९
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 29

HINDU-VIVAH MEN
KANYADAN KA STHAN

Dr. Sampoornanand

Bharatiya Jnanpith
Publication

Forth Edition 1970

Price Rs. 2.00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्रधान एवं विक्रय कार्यालय
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६

प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

चतुर्थ संस्करण १९७०

मूल्य २.००

सन्मति मुद्रणालय
वाराणसी–५
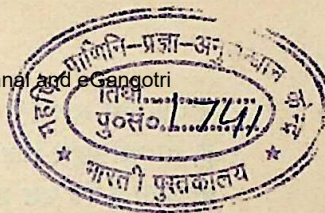
भूमिका

आज से पचीस वर्ष पहले की बात है। मेरी लड़की का विवाह हुआ था, विवाह में कन्यादान भी हुआ। उस अवसर पर श्री व्रजबिहारी राय एम० ए०, एल-एल० बी० ने, जो इस समय कौंसिल ऑव स्टेट्स के सदस्य हैं, मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि कन्यादान में उदात्त भावों की अभिव्यक्ति नहीं होती। मैंने दो-एक पुस्तकें देखीं और दैनिक आज में इस सम्बन्ध में एक लेख भी लिखा। बात प्रायः वहीं समाप्त हो गयी।

परन्तु यदा-कदा एतद्‌विषयक विचार उठते रहे। सार्वजनिक कामों ने जम कर अध्ययन करने का अवकाश नहीं दिया परन्तु उधर से ध्यान हटा नहीं। मैं अब इस काम को पूरा कर पाया हूँ। मैंने यह प्रयत्न किया है कि किसी पक्ष के साथ अन्याय न हो। यदि मेरे अभिमत सिद्धान्त के विरुद्ध कोई प्रमाण मिला है तो मैं ने उसे जान-बूझ कर नहीं छोड़ा है और न कहीं मूल के अर्थ को तोड़ने-मरोड़ने का यत्न किया गया है।

एक अपराध स्वीकार करता हूँ। मुझे भारतीय दर्शन में अविचल श्रद्धा है। मेरा ऐसा विश्वास है कि दर्शन केवल चित्तविलास की सामग्री नहीं है वरन् मानव जीवन को उत्कृष्ट बनाने का श्रेष्ठतम साधन है। मेरी ऐसी निष्ठा है कि प्राचीन आचार्यों ने—ऋषियों, मनुओं, पथिकृत पूर्वजों ने—जीवन के सभी अंगों को आध्यात्मिकता से ओतप्रोत बनाने का यत्न किया था, प्रत्येक मनुष्य के जीवन को व्यावहारिक वेदान्त का चल प्रबन्ध-काव्य बनाना चाहा था। उन का उद्देश्य यह था कि पदे-पदे उस एकता की अनुभूति होती रहे जो जगत् के नानात्व का धरातल है। जब

मैं कहीं इस आदर्श से स्खलन देखता हूँ, स्वार्थ को सिर उठाते देखता हूँ, तो मुझे सहज चिढ़ होती है। और मेरा अब तक का अध्ययन यह बतलाता है कि उस प्राचीन पथ से हम पिछले सहस्र वर्षों में ही अधिकतर हटे हैं। विदेशी शासन ने हमारी बुद्धि कुण्ठित कर दी, हमारी आध्यात्मिक चेतना को मन्द बना दिया। परिणाम यह हुआ कि जहाँ शुद्ध सोना था वहाँ बहुत-सी मिट्टी आ गयी, पुरानी बातों के साथ प्रक्षिप्त सामग्री मिल गयी। पुराने रूप को पहचानना कठिन हो गया।

विवाह मनुष्य के जीवन का सब से महत्त्वपूर्ण काम है और यह सर्वथा उचित है कि धर्मगुरु और शासन उस की ओर पूरा-पूरा ध्यान दें। विवाह के ठीक-ठीक सम्पन्न होने पर, विवाह-जनित कर्तव्यों को यथार्थ रूप से समझ लेने पर, केवल पति-पत्नी का सुख-सौभाग्य निर्भर नहीं होता। कई पीढ़ियों तक उन की सन्तान और अन्ततोगत्वा समूचे समाज का हिताहित इस के साथ अनुबद्ध है। विवाह में केवल वर-कन्या को सामने नहीं रखना है, अजात सन्तति और उस समाज को भी सामने रखना है जिस के वह नागरिक हैं। स्त्री-पुरुष तो यों भी साथ रह सकते हैं, आज-कल उन के मिल कर रहने और इस सहवास से उत्पन्न सन्तान को वैध बनाने के उपाय निकलते ही रहते हैं, परन्तु विवाह इस से ऊँची और व्यापक वस्तु है। कम से कम आर्य विचारकों ने ऐसा ही माना था। वह संसारी समझौता नहीं वैदिक संस्कार है, देवों को साक्षी बना कर सम्पन्न पवित्र कृत्य है। उस को फिर प्राचीन रूप देकर दाम्पत्य को सुखी और उदात्त और जीवन को अर्थगर्भ बनाना है।

आज जिस प्रकार कन्यादान होता है उस से उस का वास्तविक उद्देश्य छिप गया है और उस के महत्त्व पर परदा पड़ गया है। उस रूप और उद्देश्य को फिर जनसाधारण के सामने लाना आवश्यक है।

लखनऊ
भाद्र कृष्ण १, २००८

—सम्पूर्णानन्द
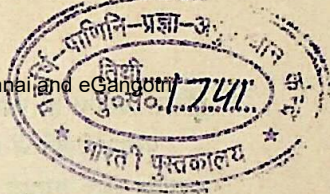
यह प्रकाशन

विद्वद्वर श्री सम्पूर्णानन्दजी की यह नवीनतम कृति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे अपने विषय की 'क्रान्तिकारी' रचना कहा जा सकता है। साधारणतया पुस्तक का शीर्षक देख कर पाठक सोचेंगे : "अच्छा, 'कन्यादान' के विषय में है यह किताब ! हाँ, कन्यादान तो हिन्दू विवाह का प्राण ही है। उसी की महत्ता विद्वान् लेखक ने प्रमाणित की होगी।" पर, वास्तव में पुस्तक का अध्ययन पाठकों को चौंकायेगा और यह सोचने के लिए मजबूर करेगा कि 'कन्यादान'-जैसी भ्रामक शब्द-योजना हम शताब्दियों से आज तक क्यों वहन करते चले आये हैं ? संक्षेप में यह कि कन्यादान से न किसी 'स्वत्व' का सर्जन होता है, न विसर्जन, न हस्तान्तरण। न ही कन्या कोई चल या अचल 'सम्पत्ति' है कि उस का 'दान' किया जाये। कन्यादान तो एक वैधानिक अलीक (लीगल फिक्सन) है।

विवेचन शास्त्रीय होते हुए भी इस की पार्श्वभूमि विस्तृत है और दृष्टिकोण व्यापक। पुस्तक विदेशीय तथा भारतीय संस्कृति में स्त्रियों की सामाजिक अवस्था के संक्षिप्त क्रमिक विकास की झाँकी देती है। भारतीय दर्शन और संस्कृति के प्रति अपनी अविचल श्रद्धा के बावजूद भी मान्य लेखक ने प्रायः प्रत्येक प्रासंगिक उद्धरण या मान्यता को तर्क की कसौटी पर कसा है और संतुलित दृष्टिकोण उपस्थित करने की चेष्टा की है। जहाँ इस में वेदवर्णित सम्राज्ञी श्वसुरे भव का उल्लेख है वहाँ वाल्मीकि रचित राम-वाक्य न त्वदर्थं मया कृतः [हे सीता ! यह युद्ध मैं ने तुम्हारे लिए नहीं किया] का भी। इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य आदि की अनेक ऐसी व्यवस्थाओं का भी उल्लेख है जिन से कई स्थानों पर

दुविधा उत्पन्न हो जाती है। इन दुविधाओं का परिहार यहां मिलेगा।

पुस्तक देखने में छोटी है, पर इस के पीछे ओजस्वी लेखक की दीर्घ ऊहापोह और लगभग चालीस ग्रन्थों का सन्दर्भ-श्रम है।

पुस्तक के निष्कर्ष के विषय में सभी एकमत हों, यह तो आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रश्न से प्रश्न उठते ही हैं, और ऐसे विषय पर अनेक शास्त्रों के अनेक प्रमाण तथा अनेक युगों की अनेक विपरीत घटनाएँ मिलती हैं जिन का संकेत स्वयं लेखक ने कर दिया है। किन्तु यह निश्चित है कि पुस्तक विचारों को उत्तेजना देगी और हमें उस विचार-परम्परा से उन्मुक्त करेगी जो युग के अनुकूल नहीं, और जो अपनी प्राचीन विकसित संस्कृति के भी अनुकूल नहीं।

ज्ञानपीठ की ओर से हम मान्य सम्पूर्णानन्दजी के आभारी हैं कि उन्होंने इस रचना के प्रकाशन का श्रेय हमें दिया। ज्ञानपीठ के संस्थापक श्रीयुत साहू शान्तिप्रसाद जैन के प्रति भी हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने विद्वान् लेखक से सांस्कृतिक चर्चा के प्रसंग में इस रचना का पता पा कर हमारे लिए यह उपलब्ध कर दी।

पुस्तक में जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है, उस के प्रति अन्य विद्वानों की प्रतिक्रिया का परिचय पा कर हमें प्रसन्नता होगी।

लखनऊ,
२५ फ़रवरी १९५४

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

द्वितीय संस्करण

पुस्तक के प्रथम संस्करण का समाप्त होना इस बात का प्रमाण है कि कुछ लोगों ने उस को पढ़ा। जिन लोगों ने पढ़ा होगा निश्चय ही उन के विचारों में कुछ उथल-पुथल मचा होगा। कन्यादान-जैसी प्रचलित प्रथा को अशास्त्रीय मानने के लिए बुद्धि सहसा तैयार नहीं हो सकती। जो प्रथा सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है, जिस के सिलसिले में संस्कृत के लम्बे मन्त्र पढ़े जाते हैं, वह शास्त्रविरुद्ध है ऐसा जल्दी विश्वास नहीं होता; परन्तु मैं ने जिन प्रमाणों को उपस्थित किया है उन का ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। सामाजिक बातों में परिवर्तन एक साथ नहीं हुआ करते। कम से कम प्राचीन काल में तो आज की व्यवस्थापिका सभाओं-जैसी संस्थाएँ नहीं थीं जिन के द्वारा बात की बात में नये विधानों को बना कर पुरानी प्रथाएँ समाप्त कर दी जायें। उस समय तो जो भी परिवर्तन होता था वह धीरे-धीरे ही कालगति के अनुसार होता था। किसी पुराने क़ानून को बदलने का प्रश्न नहीं उठता था। नयी टीकाएँ बनती थीं जो पुराने श्रौत और स्मार्त वाक्यों की नयी व्याख्या कर देती थीं। इतने से ही काम चल जाता था। कुछ थोड़ी-सी विशेष अवस्थाओं में नयी स्मृतियों की भी रचना करनी पड़ती थी। सिन्ध पर अरब आक्रमण के बाद देवल स्मृति की रचना इस का स्पष्ट प्रमाण है। नयी टीकाओं और नयी स्मृतियों में एक बात का पूरा लिहाज़ रखा जाता था। वह यह कि

नवीनता और प्राचीनता के बीच में गहरी खाई न बन जाये, नवीन पद्धति पर प्राचीन शैली की गहरी छाप बनी रहे। भारत में मुसलिम राज्य के स्थापित होने के बाद ऐसा न हो सका। प्रथाएँ बदलीं, लोगों के विश्वासों, विचारों और धारणाओं में परिवन हुए; परन्तु इन परिवर्तनों को शास्त्रीय रूप न मिल सका इसलिए वह अपने उद्गमस्थान से बहुत दूर जा पड़े। इसी का यह परिणाम है कि कन्यादान की प्रथा में ऐसी बातें आ गयीं जो प्राचीन आर्य विचारों से सर्वथा प्रतिकूल हैं। यदि मनीषियों का ध्यान इस ओर जाये तो इस का शुद्ध रूप स्थापित कर के हिन्दू विवाहपद्धति की पवित्रता की पुनः प्रतिष्ठा हो सकती है; परन्तु कन्यादान या विवाह-सम्बन्धी अन्य किसी कृति की शुद्धि तभी हो सकती है जब हिन्दू विवाह का शास्त्रसम्मत उद्देश्य स्वीकार कर लिया जाये।

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि मैं ने इस उद्देश्य का जो रूप दिखलाया है वह काल्पनिक है, विवाह का मूल वस्तुतः कामचार है। निश्चय ही मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों में काम का भी स्थान है और बहुत से लोगों के लिए विवाह इस वासना की तृप्ति का वैध साधन-मात्र है। परन्तु प्राचीन काल से ही आर्य मनीषियों ने इस सहज प्रवृत्ति को, जो मनुष्य की ही भाँति पशु-पक्षियों में भी पायी जाती है, शुद्ध रूप देने का प्रयत्न किया। इस पर नियन्त्रण लगाये गये और इस की तृप्ति को स्वयं साध्य न मान कर दुष्प्राप्य, ऊँचे लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन बताया गया। बार-बार यह उपदेश दिया गया है कि अर्थ और काम की खोज धर्म के नियन्त्रण में ही होनी चाहिए। श्वेतकेतु की कथा में ऐतिहासिक तथ्य चाहे जो हो परन्तु वह यह बतलाती है कि जिन लोगों में उस का प्रचार था उन की दृष्टि में निरंकुश कामचार गर्हित था और उस का नियन्त्रण श्रेयस्कर। नियन्त्रण की मात्रा की पुष्कलता के कारण ही ब्राह्म विवाह राक्षस और पैशाच ही नहीं प्रत्युत आर्ष, दैव और प्राजापत्य से भी ऊँचा

ठहराया गया है। समाज की बुद्धि में उन आदर्शों के पुनः अवतरित होने से ही कल्याण होगा। आज-कल जिस तेज़ी से सामाजिक विधानों में उलट-फेर हो रहा है उस से यह आशंका होती है कि कुछ दिनों के बाद विवाह संस्कार न रह कर लौकिक इक़रारनामा-मात्र रह जायेगा। उस दशा में उन आध्यात्मिक भावनाओं के लिए स्थान ही न रह जायेगा जो हिन्दू विवाह की आधारशिला है। भगवान् हम को ऐसी बुद्धि दें कि कालानुगत परिवर्तन करते हुए भी उन पवित्र मान्यताओं की रक्षा कर सकें जो हमारी संस्कृति की विशेषताएँ हैं।

लखनऊ,
पौष कृष्ण १३, २०१२

—सम्पूर्णानन्द

तृतीय संस्करण

यह मेरे लिए परितोष की बात है कि इस पुस्तक की तृतीय आवृत्ति होने जा रही है। इस का यह अर्थ है कि लोगों ने इस को रोचक और सम्भवतः कुछ हद तक उपयोगी पाया है। मेरा तो इस के लिखने में यही उद्देश्य था कि विवाह-जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कार की तह में जो सिद्धान्त निहित है, उस पर कुछ प्रकाश डाला जाये। यही आशा कर सकता हूँ कि इस उद्देश्य में मुझे कुछ सफलता मिली है।

एक बात का खेद है। मैं चाहता था कि इस पुस्तक की ओर उन लोगों का भी ध्यान जाता जो हमारी पुरानी मान्यताओं और मर्यादाओं के रक्षक हैं। मेरा संकेत संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों और पण्डितों से है। ऐसा प्रतीत होता है कि मैं इस उद्देश्य में सफल न हो सका और इस वर्ग को आकृष्ट न कर सका। कम से कम किसी ने अपनी सम्मति व्यक्त करने का कष्ट नहीं किया।

जयपुर
फाल्गुन शु० १, २०२०

—सम्पूर्णानन्द

अनुक्रम

●

■

समाज में स्त्रियों का स्थान

[१] हिन्दू समाज के बाहर

इस पुस्तक का उद्देश्य तो हिन्दू समाज की विवाह-पद्धति के एक विशेष अंग का अध्ययन करना है परन्तु दूसरे समुदायों में स्त्रियों का जो स्थान रहा है और उस स्थान के कारण विवाह का जो स्वरूप रहा है उस पर दृष्टिपात करने से प्रकृत विषय को समझने में सहायता मिल सकती है। जिन मानव-समुदायों को देश और काल ने एक दूसरे से पृथक् कर रखा था उन के विचार किस प्रकार समय-समय पर टकराते रहे हैं यह स्वयं अध्ययन के लिए रोचक विषय है।

यूनानियों के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। यह जाति युरॅप में सभ्यता और संस्कृति की अग्रदूत थी और इस का सिक्का उन लोगों पर भी बैठा हुआ था जो युद्धक्षेत्र में इस पर विजय पा चुके थे। परन्तु स्त्रियों के सम्बन्ध में इन लोगों के विचार बहुत ही अनुदार थे। 'ए शार्ट हिस्टरी आॅव वीमेन' में डेयर्स कहते हैं कि प्राचीन यूनान में स्त्रियों का दर्जा शाक-भाजियों के बराबर था। यूनान ने अफ़लातून और अरस्तू-जैसे दार्शनिकों को जन्म दिया जिन के विचारों का आज भी सर्वत्र आदर है। विज्ञान, राजनीति, दर्शन के क्षेत्रों में मनुष्य ने शताब्दियों तक यूनान का नेतृत्व स्वीकार किया परन्तु दुःख की बात है कि यूनानी विद्वानों का ध्यान स्त्रियों की परिस्थिति की ओर नहीं गया। यों तो अपने व्यक्तित्व के बल पर स्त्री अपने लिए जगह बना ही लेती है परन्तु समाज की

उत्कृष्टता तो इस बात से जाँची जाती है कि उस के विद्वान् और विधान स्त्रियों को कैसी जगह देते हैं।

आरम्भ में रोम की भी यही अवस्था थी। वहाँ भी स्त्रियों का स्थान बहुत नीचा था। ऐसा माना जाता था कि पिता अपनी सन्तान का पूर्ण स्वामी है, उस को सन्तति के जीवन पर पूरा अधिकार है और यह अधिकार प्राणदण्ड की सीमा तक जा सकता है। पिता के जीवन काल में इस स्वत्व की समाप्ति नहीं हो सकती थी। पिता के मरने पर लड़का तो इस बन्धन से मुक्त हो जाता था क्योंकि ऐसा माना जाता था कि पुरुष होने के कारण वह पिता का स्थान लेने की क्षमता रखता है परन्तु लड़कियों में यह क्षमता कभी भी नहीं होती। इसलिए पिता की मृत्यु के बाद भी वह स्वतन्त्र नहीं हो सकती थी। यदि पिता अपने जीवन काल में कोई अभिभावक नियुक्त कर गया हो तो लड़की उस के अधीन रहती थी अन्यथा घर में जो कोई भी पुरुष बड़ा होता था वही उस का संरक्षक हो जाता था। स्त्री के लिए नित्यपारतन्त्र्य का सिद्धान्त सर्वमान्य था। इस सिद्धान्त का विवाह पर विलक्षण प्रभाव पड़ता था। लड़की तो यावदायु पिता की सम्पत्ति थी पर उस को रहना था पति के घर। एक ही प्राणी पर दो व्यक्तियों का अधिकार व्यवहार-सुकर न होता। अतः यह माना जाता था कि पिता का स्वत्व पति में चला गया और पति पत्नी के लिए पितृस्थानीय हो गया। दूसरे शब्दों में लड़की पति की दुहितृस्थानीया हो गयी। सम्पत्ति उस के पास न पीहर में थी, न ससुराल में। यदि पति मरने से पहले कोई अभिभावक नियुक्त कर जाता था तो वह उस की देखभाल करता था, नहीं तो पुत्र या अन्य बड़ा पुरुष सम्बन्धी उस को अपने तन्त्र में रखता था।

काल पाकर यह परिस्थिति बदली। जब रोमन साम्राज्य फैला तो रोमन लोग दूसरे राष्ट्रों के सम्पर्क में आये जिन में कुछ तो उन से अधिक सभ्य और संस्कृत थे। इस का परिणाम यह हुआ कि उन के सभी विधान

और नियम धीरे-धीरे बदले। इस का प्रभाव वैवाहिक नियमों पर भी पड़ा। यह माना जाने लगा कि पत्नी अपने पिता की सम्पत्ति होते हुए भी अस्थायी रूप से पति के पास धरोहर को भाँति रख दी जाती है परन्तु सम्पत्ति के विषय में वह पिता के ही अधीन है। क्रमशः लड़की की सम्पत्ति पर पिता के अधिकार ढीले होते गये परन्तु पति के अधिकार बढ़ाये नहीं गये। फलतः स्त्री अपनी सम्पत्ति की स्वतन्त्र स्वामिनी हो गयी।

जब रोमन साम्राज्य की परिधि के भीतर बहुत-से बर्बर, अर्धसभ्य और सभ्य राष्ट्र आये और रोम को अपने बराबर के राज्यों से सन्धि-समझौते करने पड़े तो बहुत-सी वैधानिक समस्याएँ उपस्थित हुईं। उन का सुलझाव पुराना रोमन विधान नहीं कर सकता था। परन्तु रोमन विधानाचार्यों ने मार्ग ढूँढ़ निकाला। उन्होंने दृष्टि फैलाकर देखा कि सभी जातियों के विधानों में कुछ बातें समान रूप से पायी जाती हैं। जंगलियों के अलिखित व्यवहार में भी बीजरूपेण उन का अस्तित्व है। उन के बिना मात्स्यन्याय से मनुष्य मनुष्य को खा जाये और समाज का अस्तित्व ही मिट जाये। विधान के पण्डितों ने इस से यह निष्कर्ष निकाला कि प्रकृति ने स्वयं मनुष्य के हृदय में कुछ सिद्धान्त रख दिये हैं। इन को उन्होंने प्राकृतिक विधान का नाम दिया और ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तों के समुच्चय के आधार पर साम्राज्य की वैधानिक कठिनाइयों को सुलझाया। इस का प्रभाव और बातों के साथ-साथ स्त्रियों की स्थिति पर भी पड़ा। 'एन्शेण्ट लॉ' में मेन ने लिखा है, "प्राकृतिक विधान के सिद्धान्त के फलस्वरूप विधानशास्त्रियों ने अपने न्यायविधि संग्रह के आधारभूत सिद्धान्तों में स्त्री-पुरुष की बराबरी की बात मान ली थी। पिता का अपनी पुत्री के शरीर पर स्वत्व, उस को बेचने और प्राणदण्ड देने का अधिकार, पूर्णतया लुप्त हो गया था और स्त्री को अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध करने का अबाध अधिकार प्राप्त हो गया था।"

उत्तरी युरॅप की नॉर्डिक जातियों में भी, जो आज-कल के अँगरेज़ों,

जर्मनों और इन से मिलते-जुलते जनपदों की पूर्वज थीं, पिता को प्राय: ऐसे ही अधिकार प्राप्त थे। परन्तु उन्होंने पति को पितृतुल्य पद देने की जगह दूसरा ही उपाय निकाला था। विवाह के समय वर कन्या के पिता को मूल्य देकर उस स्त्री के शरीर पर स्वत्व प्राप्त कर लेता था।

प्राय: सभी जंगली और बर्बर तथा अर्धसभ्य जातियों में स्त्री का पद पुरुष से बहुत छोटा था। उस की गणना शाक-भाजी में ही होती परन्तु मनुष्य की आकृति होने से और थोड़ी-बहुत बुद्धि होने से कुछ लिहाज़ करना ही पड़ता था। फिर भी उस को निरन्तर अंकुश के नीचे रखना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता था। कहीं-कहीं तो यहाँ तक दस्तूर था कि अपने घर अतिथि आने पर पत्नी उस के तृप्त्यर्थ अर्पित कर दी जाये। फ़िजियन लोगों के पास जब रोम सरकार को कर देने के लिए अन्य सामग्री की कमी पड़ती थी तो वह पत्नियों और बच्चों को भेज देते थे।

प्राचीन काल से ही चीन का स्थान सभ्य जगत् में बहुत ऊँचा रहा है। चीनियों की अपनी संस्कृति के विकास के लिए सहस्रों वर्षों तक निर्बाध अवसर मिला। जब मंचुओं ने उन को जीता तो उन की संस्कृति को ज्यों का त्यों अपना लिया। इस देश के इतिहास में कई प्रभावशालिनी और आदरास्पद स्त्रियों के नाम आते हैं परन्तु स्त्रियों के प्रति लोगों का जो दृष्टिकोण था उस की व्यंजना प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ़्यूशियस इन शब्दों में करते हैं, "स्त्री सदैव परतन्त्र रहती है और उस को चाहिए कि अपने पति और श्वसुर के प्रति समुचित रीति से विनीत रहे।" साधारण चीनी स्त्री का मुख्य काम क्या समझता है इस की झलक इस बात से मिलती है कि पत्नी की ओर बहुधा 'मेरे बच्चों की माता' कह कर संकेत किया जाता है। यह जान लेना चाहिए कि यह अनादरसूचक आख्या नहीं है। स्त्री सार्वजनिक क्षेत्र से प्राय: अलग रहती थी परन्तु घर पर उस का स्थान बहुत ऊँचा था।

प्राचीन मिस्र में स्त्रियों का स्थान अन्य बहुत-से देशों की अपेक्षा

ऊँचा था। वह पुरुषों के बराबर मानी जाती थी और न केवल राज्य में बड़े पदों पर नियुक्त होती थीं प्रत्युत धर्मगुरुओं और धर्माचार्यों की श्रेणी में भी आ सकती थीं। उन के बाहर निकलने पर कोई रोक-टोक न थी और विशेष अवसरों पर पति-पत्नी एक ही मंच पर, एक ही बड़ी कुरसी पर बैठा करते थे।

ईसाई धर्म में ईसा की माता मरियम का स्थान बहुत ऊँचा है। वह पूज्य दृष्टि से देखी जाती हैं। ऐसी अवस्था में ईसाइयों में स्त्री का बहुत आदर होना चाहिए था। परन्तु वस्तुतः ऐसा था नहीं। ईसाई होने के बाद भी विभिन्न जातियों के आचार-विचार प्रायः पूर्ववत् रहे। बाइबिल में ऐसा उल्लेख है कि आदिनारी ईव से रुष्ट हो कर ईश्वर ने उस से कहा था, 'मैं तेरे दुःखों को बढ़ाऊँगा', फिर यदि साधारण मनुष्य ईश्वर का अनुकरण करें तो इस में आश्चर्य ही क्या है ? स्त्रियों को सम्बोधित कर के महात्मा टटर्चुलिअन ने कहा है, "तुम नरक का द्वार हो। नर ईश्वर की प्रतिभा है, तुम उस को नष्ट कर देती हो।" विवाह पवित्र संस्कार है और पत्नी को भगवान् को साक्षी कर के यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह पति से प्रेम करेगी, उस का आदर करेगी और उस की वशवर्तिनी रहेगी। ईसाई धर्म बहुविवाह की आज्ञा नहीं देता परन्तु फिर भी पुरुष को बहुत-सी सुविधाएँ हैं। जैसे आचरण से स्त्री तत्काल ही पतित ठहरा दी जायेगी वैसा यदि पुरुष करे तो उतनी कड़ाई नहीं बरती जाती। तलाक़ भी पुरुष को जल्दी मिलता है।

अरबों में भी कभी लड़की का दर्जा बहुत छोटा माना जाता होगा और वह विवाह आदि के विषय में पिता की इच्छा के अधीन मानी जाती होगी। क़ुरान और हदीस में इस की ध्वनि मिलती है। आयशा के अनुसार जो स्त्री अपने पिता की स्वीकृति के बिना विवाह करती है, उस का विवाह प्रशस्य नहीं है।

अबू हरैरा लिखते हैं, "एक स्त्री दूसरी स्त्री का दान विवाह में नहीं

कर सकती और न कोई स्त्री स्वतः अपने को पति को अर्पित कर सकती है क्योंकि जो स्त्री अपने को पुरुष को सौंपती है वह व्यभिचारिणी होती है।" परन्तु इस के विरुद्ध इब्न अब्बास बताते हैं, "एक बार मुहम्मद साहब के पास एक महिला ने आ कर कहा कि मेरे पिता ने मेरा विवाह ऐसे पुरुष से कर दिया है जिस को मैं पसन्द नहीं करती। तब उन्होंने उस को अपनी इच्छा पर छोड़ दिया अर्थात् अपनी पसन्द के वर से विवाह करने की स्वतन्त्रता दे दी।" सैयद अमीरअली का कहना ठीक प्रतीत होता है कि मुसलिम विधान के अनुसार पिता लड़की का अभिभावक या वलीमात्र है जो कन्या की ओर से क़ानूनी काम करता है, वह किसी भी दृष्टि से उस का स्वामी नहीं है। पति भी स्वामी नहीं होता। बालिग़ होने के बाद क़ानून उस को स्वतन्त्र मनुष्य के सभी अधिकार प्रदान कर देता है। यह दुःख का विषय है कि व्यवहार में स्त्री का स्थान उतना ऊँचा न रह सका। परदे की प्रथा ने उसे और नीचे गिराया। यह तो सभी जानते हैं कि मुसलिम विधान के अनुसार पिता की सम्पत्ति में लड़की का भी हक़ होता है। यह भाग लड़के के भाग से भले ही कम हो पर इस से स्त्रियों को कुछ न कुछ आर्थिक स्वतन्त्रता मिल जाती है जिस से समाज में उस को आदर का स्थान प्राप्त करने में सफलता मिलती है और मिली है।

[२] हिन्दू समाज के भीतर

वर्तमान हिन्दू समाज की उपमा गंगा की धारा से दी जा सकती है। छोटी-बड़ी अनेक नदियाँ चारों दिशाओं से सैकड़ों कोस की यात्रा कर के इस में मिली हैं परन्तु मिलने पर सब एक हो गयी हैं, उन का एक नाम हो गया है। नदी में जल की जो मात्रा है, उस जल में जो वेग है, वह इन सब नदियों की सम्मिलित देन है। पर इन सब जलराशियों के बीच में वह मूल धारा है जिस में आ कर यह सब मिली हैं। यदि वह आदिस्रोत न होता तो यह मिल कर एक होने का अवसर ही न पातीं। इन सब के बीच में शरीर में प्राण की भाँति वह धार है जो गंगोत्तरी से निकल कर

गंगासागर तक चली गयी है, जो अपने क्रोड़ में सब नद-नदियों को स्थान देती गयी हैं और सब को अपने पवित्र नाम और अलौकिक प्रभाव का भागी बनाती गयी है। अनेक जातियों का समुच्चय आज हिन्दू समाज कहलाता है, अनेक संस्कृतियों के योगफल का नाम हिन्दू संस्कृति है पर इन सब के मूल में, इन सब का आश्रयस्थान और सम्बन्ध-सूत्र, इन सब में ओतप्रोत, वह संस्कृति है जिस को आर्य संस्कृति कहते हैं, जिस का प्रथम परिचय हम को उन लोगों में मिलता है जो आज से कई सहस्र वर्ष पहले सप्त-सिन्धव में रहते थे और अपने को आर्य कहा करते थे।

आर्य जीवन की झलक हम को वेदों, मुख्यतः ऋग्वेद और अथर्ववेद से मिलती है। उस से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों का स्थान वहुत ऊँचा था। पीछे से भले ही यह मान लिया गया हो कि स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, परन्तु वैदिक ऋषियों में, मनुष्यों में वेद को लाने वालों में कई स्त्रियाँ भी थीं। धर्म और अध्यात्म-शास्त्र की ऊँची से ऊँची भूमिकाओं में स्त्रियों की गति थी। वृहदारण्यक उपनिषद् का सारभाग याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी की ब्रह्मजिज्ञासा के फलस्वरूप अवतरित हुआ था और विदेह की सभा में याज्ञवल्क्य से गार्गी नाम की विदुषी तपस्विनी ने शास्त्रार्थ किया था। स्त्रियों को सम्पत्ति पर रखने का भी अधिकार रहा होगा क्योंकि याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति अपनी स्त्रियों में बाँट कर संसार से विमुख होने का प्रस्ताव कर रहे थे। स्त्री पति या उस के सम्बन्धियों की दासी न हो कर गृहस्वामिनी होती थी इस का प्रमाण वह मन्त्र देता है जो पहले-पहले सूर्या के विवाह में पढ़ा गया और तब से आज तक प्रत्येक शास्त्रसम्मत हिन्दू विवाह में दुहराया जाता है :

सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ ऋक्० १०।८५।४६।
"सास, श्वसुर, ननद और देवरों पर सम्राज्ञी हो।"

यह आदर्श उन आदर्शों से कितना ऊँचा है जिन में स्त्री सदा परतन्त्र

मानी जाती है और उस को यह आदेश दिया जाता है कि पति के सम्बन्धियों की सेविका बन कर रहे। प्रेम और आदर करने का कर्तव्य तो था परन्तु पति-पत्नी दोनों के लिए। विवाह के समय दम्पती संकल्प करते हैं :

मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

"अपने व्रत में तुम्हारे हृदय को धारण करता हूँ। तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो। एक मन से मेरी बात का पालन करो, प्रजापति तुम को मेरे लिए नियुक्त करें।"

पर इस अवस्था में क्रमशः परिवर्तन हुआ। सप्तसिन्धव से बाहर आर्यों का बहुत-सी व्रात्य, बर्बर, असभ्य और अधिकतर अनार्य जातियों से सम्पर्क हुआ। उन लोगों पर तो आर्य संस्कृति की अमिट छाप पड़ी ही परन्तु आर्य भी अछूते न बच सके। अरब, पठान और मुग़ल आक्रमणों ने परिवर्तन की गति और तीव्र कर दी। अन्य उलट-फेर के साथ स्त्रियों का स्तर नीचे गिरा। यह परिवर्तन अपनी छाया संस्कृत और प्राकृत तथा प्राकृत से निकली पीछे की भारतीय भाषाओं के वाङ्मय पर छोड़ गया है। पुराने मन्त्र ज्यों के त्यों थे, पुराने संस्कारों का परित्याग नहीं किया गया परन्तु उन का व्यवहार निर्जीव हो गया। मन्त्रद्रष्टी स्त्रियों की वंशजाओं से वेद पढ़ने का अधिकार छिन गया। कुछ स्मृतियों में, जो अन्तःसाक्ष्य से अरब-पठान आक्रमण के प्रारम्भिक काल की बनी प्रतीत होती हैं, दूषित और बलात् धर्मान्तर में प्रवेशित स्त्रियों की शुद्धि के लिए बहुत सरल व्यवस्था दी हुई है। बहुधा तो मासिकधर्म से ही शुद्धि मान ली जाती थी। उन दिनों जो हिन्दू स्त्रियाँ विदेशियों के हाथ में पड़ जाती थीं वह लौट आने का पूरा प्रयत्न करती थीं। इस प्रयास में कइयों ने असाधारण शौर्य और दृढ़ता का परिचय दिया था। परन्तु पीछे से यह मान लिया गया कि जो स्त्री एक बार पतित कर दी गयी वह कभी शुद्ध नहीं

हो सकती। इस का परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों को लौटने का उत्साह जाता रहा और वह तथा उन की सन्तति उस हिन्दू समाज की कट्टर शत्रु बन गयी जिस ने उन का इस प्रकार निर्दय तिरस्कार किया था।

यों तो वेदों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के छोटे होने की ओर कहीं-कहीं संकेत मिलता है परन्तु इस प्रकार के स्पष्ट वचन पीछे के काल में बहुतायत से मिलते हैं। अपनी स्मृति के पन्द्रहवें अध्याय में वसिष्ठ कहते हैं :

शोणितशुक्रसम्भवः पुरुषो मातापितृनिमित्तकः। तस्य प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः।

"पुरुष माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न होता है, अतः माता-पिता को उस को दान करने, बेचने और त्याग करने का अधिकार है।" यहाँ तो सन्तति मात्र पर अधिकार माना गया है परन्तु पीछे से यह अधिकार लड़कियों तक ही सीमित रह गया। मनु कहते हैं :

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ (९।३)

"बचपन में पिता और यौवन में पति रक्षा करता है तथा बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करते हैं। स्त्री स्वतन्त्र रहने के योग्य नहीं है।"

इस वाक्य का यह भी अर्थ हो सकता है कि बचपन में पिता का, यौवन में पति का तथा बुढ़ापे में पुत्रों का कर्तव्य है कि स्त्री की रक्षा करें। स्त्री को अरक्षित, निःसहाय न छोड़ना चाहिए।

घर में स्त्री का स्थान सदैव ऊँचा रहा। प्राचीन आर्य परम्परा का लोप नहीं हुआ। मनु ने लिखा है :

एतावानेव पुरुषः यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद् यो भर्ता साऽङ्गना स्मृता ॥ (९।४२)

"स्वयं, अपनी स्त्री, और सन्तान को मिला कर पुरुष होता है। विद्वानों का कहना है कि जो पति है, वही स्त्री है (अर्थात् दोनों पूर्णतया मिले हुए हैं)।"

इस का भाष्य करते हुए कुल्लूकभट्ट ने वाजसनेय ब्राह्मण से यह वाक्य उद्धृत किये हैं :

अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद् यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति । अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति, तथा चैतद्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्य्या स्मृता ।

"इस लिए वह अपने आत्मा का आधा ही रहता है जब तक विवाह नहीं करता । जब तक सन्तान नहीं होती तब तक असर्व रहता है । जब विवाह कर लेता है और सन्तान उत्पन्न कर लेता है तब वह सर्व होता है । वेद के जानने वाले विद्वान् ऐसा कहते हैं कि जो भर्ता है वही भार्या है ।"

यह तो बड़ा ऊँचा विचार है परन्तु वह दूसरा विचार भी कि स्त्री स्वतन्त्र छोड़ने के योग्य नहीं है, फैलता गया । स्त्री को परतन्त्र रखने का कारण यह नहीं है कि वह कोमल मृणालतन्तु के समान रक्षा के योग्य है परन्तु यह कि वह पुरुष की अपेक्षा हीन प्राणी है और लोक-परलोक में पुरुष की उन्नति में बाधा डालती है । भर्तृहरि कहते हैं :

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥

"संसार से छुटकारा पाना कठिन न होता यदि मदिरासमान नेत्रवाली स्त्रियाँ बीच में बाधा न डालतीं ।"

यह कोई नहीं पूछता कि स्त्रियों के मार्ग में कौन बाधा डालता है । साधारण मनुष्यों की तो बात क्या की जाये जब मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र भी प्रेम और तप की मूर्ति सीता के प्रति निरादरसूचक शब्दों के प्रयोग करने का साहस कर जाते हैं :

विदितश्चास्तु ते भद्रे योऽयं रणपरिश्रमः ।
स तीर्णः सुहृदां वीर्य्यान्न त्वदर्थं मया कृतः ॥

(वाल्मीकि० ६।११८।१५)

"हे भद्रे, तुम यह समझ लो कि यह जो महायुद्ध मैं ने किया है वह तुम्हारे लिए नहीं किया गया।"

रघुवंश में कालिदास भी यही बात कहते हैं। सीता को यह बात समझा दी गयी है कि रावण से उन के लिए युद्ध नहीं किया गया वरन् इसलिए कि रावण ने रामचन्द्रजी को छेड़ा था। पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः—"यदि कोई साँप को ठोकर लगायेगा तो वह उस को डँसेगा ही।" लंका की लड़ाई का कारण सीता के प्रति प्रेम नहीं प्रत्युत रावण के प्रति अमर्ष था।

यह बात भी मान ली गयी कि पति स्त्री के शरीर का स्वामी है और उस को दूसरे के हाथ में दे सकता है। ऐसा होता बहुत कम होगा परन्तु धारणा रूप से यह बात सब के मन में बैठ गयी थी। जब युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दाँव पर लगाया तो यह आपत्ति किसी ने नहीं की कि ऐसा करना अवैध होगा। स्वयं द्रौपदी को भी शंका नहीं हुई। उन्होंने केवल यह प्रश्न पूछा :

किन्तु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम्।

"किन्तु तुम पहले अपने को हारे या मुझ को?" इस का भाव स्पष्ट है। यदि राजा पहले अपने को हार चुके होते तो वह परतन्त्र हो जाते और उन को जीव-अजीव किसी सम्पत्ति पर कोई अधिकार न रह जाता और यह द्रौपदी की बाज़ी लगा ही न सकते।

स्त्रियों को दान में देने या अन्य प्रकार से हस्तान्तरित करने की कहानियाँ मिलती हैं और श्रद्धालुओं को उन में बर्बरता की दुर्गन्ध नहीं आती। कबीर के जीवन की एक कथा प्रसिद्ध है। एक दिन सायंकाल उन के यहाँ एकाएक बहुत-से साधु आ गये। घर में अन्न न था। कबीर अपनी पत्नी को एक सेठ के घर गिरवी रख आये। वह जानते थे कि यह दुराचारी है और मेरी पत्नी को कुदृष्टि से देखता है पर उसी से उस समय पर्याप्त पैसा मिल सकता था। यह दूसरी बात है कि भगवान् ने

उस सती के धर्म की रक्षा की, परन्तु यदि कथा सच हो तो कबीर ने अपनी ओर से तो अपनी पत्नी के साथ घोर अनार्य और अमानव बरताव किया। कथा सच हो या झूठ परन्तु जो लोग उस को श्रद्धा के साथ सुनते हैं वह अपने को उस पाप का भागी बनाते हैं। यदि कहानी ग़लत है तो जिस ने इसे गढ़ा उस ने ऐसी बात कही जिस को तत्कालीन लोकमत बुरा नहीं समझता था।

ईसाई प्रचारकों ने भारतीय समाज के काले चित्र खींचने में कोई कसर नहीं उठा रखी। ऐसी करुणोत्पादक बातें सुना कर ही वह अपने देशों के उदार व्यक्तियों से चन्दा जमा कर सकते थे। पश्चिम की सभ्यता की चकाचौंध में अपनी बुद्धि की स्थिरता खो कर कुछ भारतीय समाज-सुधारकों ने भी अपनी परम्पराओं की निन्दा के पुल बाँध दिये। इन बातों में बहुत अतिरंजन था। सार्वजनिक रूप से स्त्रियों के व्यक्तित्व को विकसित होने के अवसर कम हो गये हों और समाज ने उन का पद पुरुषों से नीचा भले ही माना हो परन्तु ऐसी कोई बात नहीं थी जिस से हिन्दू को दूसरों के सामने लज्जित होना पड़े। लक्ष्म, सरस्वती और दुर्गा की उपासना करने वाला, पार्वती, सीता और सावित्री का यशोगान करने वाला, सप्तशती के इस वाक्य को बराबर सुनने वाला, स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु, तव देवि भेदाः "हे देवि, जगत् की सब स्त्रियाँ आप की ही भेद हैं," स्त्रियों को कहाँ तक नीचे गिराता। मनु के इस उपदेश का कि पितुः शतगुणा माता "पिता से माता का पद सौगुना है," श्रद्धा के साथ पालन होता था। महाभारत का यह वाक्य द्रष्टव्य है:

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु जातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते॥

"जो लोग ब्राह्मण, स्त्री, गऊ और जाति का हनन करते हैं, वह लोग, हे धृतराष्ट्र, पके फल की भाँति गिरते हैं।" यहाँ स्त्री गऊ और ब्राह्मण के समान पूज्य ठहरायी गयी है।

यह सच है कि किसी-किसी स्मृतिकार ने स्त्रियों का पद बहुत नीचे गिरा दिया है। बृहस्पतिस्मृति कहती है :

सहस्रमेव धेनूनां शतं चानड्डुहां समम्।
शतानड्डुत्समं यानं दशयानसमं हयः
दशवाजिसमा कन्या।

यह श्लोक दान प्रकरण में आया है। इस का तात्पर्य यह है कि एक सहस्र गौओं के बराबर एक सौ बैल होते हैं, सौ बैलों के बराबर एक यान (रथ) होता है और दस रथों के बराबर एक घोड़ा होता है। दस घोड़ों के बराबर एक कन्या होती है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि कन्या का बाज़ार भाव घोड़े बैलों के साथ सुगमता से स्थिर किया जा सकता है। परन्तु ऐसी मूर्खतापूर्ण बातों के साथ-साथ प्रचुर मात्रा में ऐसे वाक्य मिलते हैं जो स्त्रियों के प्रति सम्मान के द्योतक हैं। मनु स्पष्ट कहते हैं :

न निष्क्रयनिसर्गाभ्याम् भर्तुर्भार्य्या विमुच्यते। (९।४६)

"स्त्री का पति से विक्रय या दान के द्वारा विच्छेद नहीं हो सकता।"

महाभारत का कहना है :

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।

"जैसे आत्मा वैसे ही पुत्र होता है और लड़की पुत्र के बराबर होती है"

संन्यासी संस्कार के सभी बन्धन तोड़ देता है। यदि उस का पिता भी मिल जाये तो संन्यासी उसे प्रणाम नहीं करेगा। परन्तु माता के लिए अपवाद है। माता के चरण संन्यासी को छूने ही होंगे।

पति या पुत्र के न होने पर स्त्रियां बराबर राज्याधिकारिणी होती आयी हैं। इस सम्बन्ध में कभी कोई वैधानिक अड़चन नहीं पड़ी। वीर नारियों के नाम से भारतीय इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। इस परम्परा का एक परिणाम तो प्रत्यक्ष हुआ। अन्य देशों की भाँति भारतीय स्त्रियों को मताधिकार के लिए लड़ना नहीं पड़ा। जब उन को वोट देने का और

चुने जाने का अधिकार मिला तो किसी ओर से भी विरोध नहीं हुआ। आज स्त्रियाँ बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त होती हैं, इस की भी कोई प्रतिक्रिया नहीं देख पड़ती।

सम्पत्ति के सम्बन्ध में स्त्रियों और पुरुषों में वैषम्य है। कुछ शास्त्र-कारों का तो यह मत है कि स्त्रियों को पैतृक सम्पत्ति में कोई भाग न मिलना चाहिए। तैत्तिरीय संहिता में उन को अदायादी—दाय में भाग न पाने वाली—कहा है। वैदिक काल में भी सिद्धान्त और व्यवहार में कुछ अन्तर रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य एक ओर कहते हैं : न ताः दायस्य चैशत "वह (स्त्रियाँ) दाय भोगने के योग्य नहीं हैं।" और दूसरी ओर स्वयं अपनी सम्पत्ति अपनी स्त्रियों में बाँटते हैं। क्रमशः यह बात स्वीकार कर ली गयी कि विशेष परिस्थितियों में स्त्रियों तक दाय उतर सकता है।

प्राचीन काल से ही स्त्रियों को यहाँ एक बहुत बड़ा अधिकार मिला हुआ है। स्त्री अपने पिता-माता से या पति से जो कुछ चलाचल सम्पत्ति पाती है उसे स्त्रीधन कहते हैं। उस पर उस का एकमात्र अधिकार होता है। पति पर चाहे जितना ऋण हो जाये परन्तु महाजन उस पर हाथ नहीं डाल सकता। मृत्यु के बाद यह सम्पत्ति दिवंगता स्त्री की लड़कियों को मिलती है। इस व्यवस्था ने हिन्दू स्त्रियों को ऐसी आर्थिक स्वाधीनता दे दी है जिस के लिए पाश्चात्त्य नारी भी तरसती हैं।

हिन्दू समाज में अब तक विवाहविच्छेद (तलाक़) की प्रथा नहीं थी। इस पर समाजसुधारकों को बड़ी आपत्ति है। हो सकता है कि तलाक़ किन्हीं दृष्टियों से अच्छी चीज़ हो परन्तु अब तक तो इस प्रथा के अभाव ने हिन्दू स्त्री की बहुत रक्षा की है। पति-पत्नी में चाहे प्रेम न हो परन्तु स्त्री पतिकुल के लिए पोष्या रही है। विधवा होने पर भी उस का यह अधिकार अक्षुण्ण रहता था। इस लिए एक ओर तो वह रोटियों के लिए भिखारिन बनने से बच जाती थी, दूसरी ओर पेट के लिए धर्म

बेचने की लालच से भी दूर रहती थी। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार नहीं होता; तात्पर्य केवल इतना है कि उन को रक्षा और ससम्मान जीवननिर्वाह के लिए भी पर्याप्त प्रवन्ध है।

सतीत्व को जो असाधारण महत्त्व दिया गया है इस पर कुछ लोगों को आश्चर्य होता है, आज-कल इस पर हँसने और इसे असामयिक मानने की भी कुछ प्रवृत्ति है। यह भावना इस बात की द्योतक मानी जाती है कि पुरुष स्त्री को भुलावे में डाल कर अपने साथ बाँध रखना चाहता है। सम्भव है यह सब बातें अंशतः सच हों। पुरुष की सद्भावना की वकालत मैं भी नहीं करता परन्तु यह भी सच है कि हिन्दू समाज ने सतियों को जो ऊँचा स्थान दिया है गौरी, सावित्री, लोपामुद्रा, अरुन्धती, सीता को जिस आदर की दृष्टि से देखता है, उस का प्रभाव स्त्रियों के लिए बड़ा अच्छा हुआ है। स्त्री की सहज पवित्रता के सामने पुरुष को सिर झुकाना ही पड़ता है, स्त्री को भो इन आदर्शों को अपने सामने रखना ही पड़ता है।

वर्तमान काल के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। वह तो हमारे सामने है। स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में भी परिवर्तन हो रहे हैं। यह कहना कठिन है कि यह परिवर्तन सब के सब कहाँ तक वांछनीय है।

भारत में और उस के अंगभूत हिन्दू समाज में भी द्रुत गति से अवस्था बदल रही है। कुछ परिवर्तन तो स्वाभाविक और कालगति के अनुरूप हैं और कुछ केवल पश्चिम की नकल हैं। विवाह और दाय भाग के नियमों पर आलोचकों की कड़ी दृष्टि है, पुराने बिचार ढीले पड़ रहे हैं, पुराने विश्वासों में वह पहले की शक्ति नहीं रही, पुराना आर्थिक ढाँचा भी नहीं रहा। परिवर्तन होना ही चाहिए परन्तु गम्भीर विचार के बाद, ताकि उस के प्रवाह में वह विचार और तन्मूलक प्रथाएँ भी न बह जायें जो हमारी संस्कृति की प्राणस्वरूपा हैं।

●

कन्यादान और
हिन्दू विवाह में उस का महत्त्व

दान शब्द दा धातु से निकला है। उस का प्रयोग खैरात, भेंट, समर्पण के अर्थ में होता है। इन सब प्रकारों से वस्तु का हस्तान्तरण होता है और हस्तान्तरण के साथ-साथ उस का स्वामी बदल जाता है। मुख्य प्रयोग तो यही है, यों व्यवहार में ऐसे स्थलों पर भी इस शब्द या इस से सम्बद्ध क्रिया पदों से काम लेते हैं जहाँ हस्तान्तरण या स्वामि परिवर्तन का भाव नहीं होता। उदाहरण के लिए, अतिथि को आसनदान किया जाता है अर्थात् बैठने की जगह दी जाती है, दर्जी को कपड़े दिये जाते हैं, परीक्षा दी जाती है इत्यादि। 'कन्यादान' में दान शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ में ही हुआ है। कन्या का वर को सौंप दिया जाना कन्यादान है; उस प्रक्रिया को भी कन्यादान ही कहते हैं जिस के द्वारा यह दान सम्पन्न होता है। कन्या का पिता ही दाता होता है पर यदि पिता न हो तो याज्ञवल्क्य के अनुसार क्रमात् पितामह, बड़ा भाई और माता यह कृत्य कर सकते हैं। यदि इन में से कोई भी न हो तो कोई भी बड़ा सम्बन्धी पिता की जगह ले सकता है। वर ही आदाता होता है।

यों तो कन्या को वर को अर्पित करने की प्रथा अन्यत्र भी पायी जाती है परन्तु हिन्दू समाज में इस को जिस धार्मिक दृष्टि से देखा जाता है वह और कहीं नहीं है। दूसरी जगह वह केवल सामाजिक रिवाज है जिस को छोड़ देने से विवाह की पद्धति में कोई कमी नहीं आती। हिन्दुओं में कन्यादान विवाह पद्धति का अनिवार्य अंग है। आर्य समाज ने भी

इसे रखा है। अब तो इस की अनिवार्यता का केवल एक अपवाद रह गया है। 'अब' कहने का विशेष कारण है। हमारी सभी स्मृतियों ने ऐसा कहा है कि विवाह के आठ प्रकार होते हैं : ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इन में से कुछ को तो विवाह कहना भाषा के साथ अन्याय करना-सा प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, पैशाच को बलात्कार से भिन्न मानना कठिन प्रतीत होता है। स्मृतिकारों ने इन को इसीलिए विवाह की पदवी दी है कि इन से जो सन्तान उत्पन्न हो वह वैध मान ली जाये और निराश्रय न रहे। आज-कल ब्राह्म ही वास्तविक विवाह माना जाता है। हिन्दू-मात्र में, कम से कम उन लोगों में जो न्यूनाधिक रूप से शास्त्रों का पालन करते हैं, यही प्रचलित है। स्मृतियों ने भी इस को ही सब से श्रेष्ठ और पवित्र बतलाया है। परन्तु इस के साथ-साथ गान्धर्व की भी मान्यता प्राप्त है। यदि कोई स्त्री और पुरुष साथ रहते हों और दम्पती-जैसा व्यवहार करते हों और यदि उन का विवाह अन्य किसी कारण से अवैध न होता हो तो उन के इस सम्बन्ध को विवाह-जैसा मान लिया जाता है। गान्धर्व विवाह में कन्यादान के लिए कोई स्थान नहीं है।

यहाँ हम को ब्राह्मविवाह पर ही विचार करना है। इस में ही वस्तुतः कन्यादान होता है। विवाह की यह पद्धति बहुत लम्बी है। इस की अन्तिम कड़ी सप्तपदी है।

कन्यादान से जो पुण्य होता है वह अक्षय्य और अपरिमेय है। लिंग-पुराण के शब्दों में :

यावन्ति सन्ति रोमाणि कन्यायाश्च तनौ पुनः।
तावद्वर्षसहस्राणि रुद्रलोके महीयते ॥

"कन्या के शरीर में जितने रोम हैं उतने सहस्त्रवर्ष कन्या का दाता रुद्र लोक में निवास करता है।"

मनु कहते हैं :

दश पूर्वान् परान् वंश्यान् आत्मानं चैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन् मोचयेदेनसः पितॄन् ॥ (३।३७)

"ब्राह्म विवाह से उत्पन्न लड़का अपने कुल के इक्कीस व्यक्तियों को पाप से (नरक से) मुक्त करता है—अपने पहले के दस, पीछे के दस और एक स्वयं ।"

भविष्यपुराण की घोषणा है :

ब्रह्मदेयान्तु यः कन्याम् अलंकृत्य प्रयच्छति ।
सप्त भूतान्भविष्यांश्च स्वकुले सप्त मानवान् ॥
तेन कन्याप्रदानेन तारयिष्यत्यसंशयम् ।

"जो कन्या को अलंकृत करके ब्राह्म विधि से देता है वह निश्चय ही अपने सात पूर्वजों और सात वंशजों को नरक से बचा लेता है ।"

आश्वलायन इस से भी आगे जाते हैं :

तस्यां जातो द्वादशावरान् द्वादशपूर्वान् पुनाति ।

"उस में उत्पन्न हुआ लड़का बारह पूर्वजों और बारह अवरजों को पवित्र करता है ।"

इन वाक्यों की लाक्षणिक मीमांसा ही करनी चाहिए । शब्दशः अर्थ लगाना तो अन्याय होगा । यदि यों ही पूर्वज और अवरज पवित्र हुआ करें तो फिर कोई हिन्दू तो कभी नरक जायेगा ही नहीं क्योंकि वह किसी न किसी कन्यादान करने वाले का पूर्वज या अवरज तो होगा ही । इस प्रकार के वाक्यों को अर्थवाद की दृष्टि से देखना चाहिए जिन में अतिशयोक्तिमय प्रशंसा के द्वारा किसी कर्तव्य की ओर प्रेरित किया जाता है । तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि कोई लड़की बेब्याही न रह जाये । पिता न हो तो कोई और सम्बन्धी इस का दायित्व अपने ऊपर ले ले । यदि दुर्भाग्य से कोई भी सम्बन्धी न हो तो नारद कहते हैं :

यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत् ।

"यदि कोई न हो तो कन्या राजा के पास जाये।"

इस का तात्पर्य यह है कि राज्य का यह कर्तव्य था कि इस बात का प्रबन्ध करे कि विवाहयोग्य लड़कियों का विवाह हो जाये। वर्तमानकाल में राज्य के अधिकारों और कर्तव्यों के क्षेत्र का बहुत विस्तार हुआ है परन्तु इस कर्तव्य को किसी ने नहीं अपनाया है। प्राचीन हिन्दू राज्य इस विषय में बहुत आगे था।

कन्यादान से पुण्यसंचय होने का विश्वास इतना दृढ़ है कि पिता के दान कर लेने पर बहुत से सम्बन्धी और ऐसे लोग भी जो दूसरे वर्ण और कुल के होते हैं उस को दान देते हैं। कम से कम उत्तर भारत में तो ऐसा कई जगह देखा जाता है। यह शंका नहीं उठती कि एक बार दान की हुई वस्तु का फिर कैसे दान होगा।

दान करने के पुण्य के साथ-साथ दान न करने के दण्ड का भी वर्णन है। इस से निष्ठा और दृढ़ होती है। याज्ञवल्क्य कहते हैं :

अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ।

"कन्या का दान न करने से उस के प्रत्येक ऋतुकाल पर (पिता को) भ्रूणहत्या का पाप लगता है।"

कन्यादान का जहाँ-जहाँ विधान है वहाँ यह भी लिखा गया है कि कन्या को अपने वित्त के अनुसार सोना, चाँदी और अन्य बहुमूल्य द्रव्य देना चाहिए। दान के लिए जो संकल्प पढ़ा जाता है वह इस प्रकार है (यह संकल्प आनन्दाश्रम, पूना की छपी संस्कारपद्धति से लिया गया है) :

अमुकप्रवरान्वितामुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकशर्माऽहं मम समस्तपितॄणां निरतिशयसानन्दब्रह्मलोकावाप्त्यादिकन्याप्रतिपादनकल्पोक्तफलावाप्तयेऽनेन वरेणास्यां कन्यायामुत्पादयिष्यमाणसंतत्या द्वादशावरान् द्वादश परान् पुरुषान् पवित्रीकर्तुमात्मनश्च लक्ष्मीनारायणप्रीतये ब्राह्मविवाहविधिना कन्यादानमहं करिष्ये।

अमुक प्रवरान्वित अमुकगोत्रोत्पन्न अमुक (शर्मा, वर्मा आदि वर्णानुसार) मैं कन्यादान कल्प में बतलाये गये निरतिशय सानन्द ब्रह्मलोक-प्राप्ति आदि फलों को अपने सब पितरों को प्राप्त कराने के लिए इस वर से इस कन्या में उत्पन्न होने वाली सन्तति के द्वारा बारह पर बारह अवर पुरुषों को तथा अपने को पवित्र करने के लिए लक्ष्मीनारायण की प्रीति के लिए ब्राह्म-विवाह विधि से इस कन्या का दान करता हूँ।"

जब 'प्रतिगृह्णामि' कह कर वह अपनी स्वीकृति दे देता है तब दान के अनुरूप दक्षिणा दी जाती है, क्योंकि दक्षिणा बिना कोई शास्त्रसम्मत दान सम्पूर्ण नहीं होता।

विवाह के प्रसंग में शास्त्रों में प्रायः सर्वत्र कन्या शब्द का प्रयोग हुआ है। यह एक प्रकार का पारिभाषिक शब्द माना जाता है और दस वर्ष की अविवाहिता लड़की के लिए आता है। स्मृतियों में कई जगह ऐसा स्पष्ट आदेश है कि इस वय से आगे लड़की का विवाह नहीं टलना चाहिए। इस के पहले विवाह हो जाना तो बहुत ही श्रेयस्कर है। लड़की यदि विवाह के पहले रजस्वला हो गयी तो घर वालों को महान् पातक लगता है। इस लिए कुछ विद्वानों का मत है कि विवाह के सम्बन्ध में सर्वत्र कन्या शब्द दस वर्ष की लड़की के लिए ही आया है। ऐसा मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता। कुछ स्मृतिकारों ने निश्चय ही यह अर्थ लिया है परन्तु यह व्याख्या सर्व-सम्मत नहीं है। बहुत छोटे वय में विवाह कर देने की प्रथा अर्वाचीन प्रतीत होती है। मनु का परामर्श है कि :

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् (मनु० ९।९४)

"तीस वर्ष का वर बारह वर्ष की मनोहारिणी कन्या से विवाह करे।"

और वह यह भी आदेश देते हैं :

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ (९।९०)

"ऋतुमती होने के पश्चात् कुमारी तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, यदि घर वाले तब भी उस का विवाह न करें तो योग्य पति से स्वयं विवाह कर ले।"

इस का अर्थ तो यह हुआ कि सत्रह, अठारह वर्ष के वय तक का विवाह तो मनु को भी सम्मत है। फिर नारद ने जो यह आदेश किया है कि यदि घर वाले विवाह न करें तो कन्या राजा के पास जाये, यह आदेश भी दस वर्ष की लड़की के लिए नहीं हो सकता। इन बातों से यह प्रतीत होता है कि साधारणतः कोई भी अविवाहिता स्त्री कन्या कहलाती थी। इस का अपवाद वही स्त्रियाँ हो सकती थीं जिन्होंने किसी कारण से तपश्चर्या और योगाभ्यास में जीवन बिताने का संकल्प कर लिया हो। इस के कई उदाहरण हैं। महाभारत में सुलभा का आख्यान है। उन की तपोनिष्ठा का विलक्षण कारण है :

साऽहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्म्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥

"उस कुल में उत्पन्न हुई मैं अपने योग्य वर के न होने से मोक्षधर्म में विनीत हो कर अकेली मुनिव्रत का पालन करती हूँ।"

ऐसी देवियों को जिन का विवाह होना ही नहीं है कन्या कहना निरर्थक है।

कन्या के बराबर का ही वर शब्द है। वर वह पुरुष हुआ जो वरण करता है या जिस का वरण किया जाता है। साधारण बोलचाल में दूल्हे को, उस पुरुष को जिस का विवाह होने वाला है, वर कहते हैं।

यदि कन्या देय वस्तु है, यदि उस का दान करने से दाता और उस के कुल में उत्पन्न और उत्पन्न होने वाली पीढ़ियों को पुण्यसंचय होता है, तो फिर इस दान से अन्य दान की भाँति कुछ और भी फल घटित होंगे। दान की हुई वस्तु का उपभोग नहीं हो सकता। दान की हुई गऊ का दूध

ग्रहण करना पाप होगा। हाँ, यदि कोई बहुत बड़ी आवश्यकता पड़ जाये और गत्यन्तर न हो तो मूल्य दे कर दूध काम में लाया जा सकता है। हिन्दू कन्या के प्रति ऐसा ही व्यवहार करता है। लड़की के घर का अन्न-जल ग्रहण नहीं किया जाता, उस के घर की कोई और वस्तु भी व्यवहार में नहीं लायी जाती। यदि कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि कहीं और से काम की वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती तो मूल्य देकर कन्या की सम्पत्ति का उपयोग कर लेते हैं परन्तु मूल्य बाज़ारभाव से कहीं अधिक दिया जाता हैं। आदित्य-पुराण में आदेश है :

अप्रजायां तु कन्यायां नाश्नीयात्तस्य वै गृहे।
ब्रह्मदेया विशेषेण नैव भोज्यं सदैव तु॥

"जब तक कन्या को सन्तान न हो जाये, तब तक उस के (जामाता के) घर नहीं खाना चाहिए। विशेषकर ब्राह्मविवाह में दी गयी लड़की के घर कभी नहीं खाना चाहिए।"

सन्तान हो जाने के उपरान्त लड़की के घर खाना या उस की अन्य वस्तु का उपयोग करना उतना बुरा नहीं माना जाता। यह भी समझ लेना चाहिए कि सन्तान से तात्पर्य यहाँ पुत्र से है। हिन्दू दायविभाग के अनुसार गर्भ में आने के साथ ही लड़का पैतृक सम्पत्ति का भागी हो जाता है अतः पुत्र के जन्म होने से अब सम्पत्ति केवल लड़की जामाता की नहीं रही, वरन् दौहित्र भी अंशतः उस का स्वामी हो गया।

नाती – लड़की के लडके – का पद बड़ा ऊँचा माना जाता है। वह पुत्र के समान ही नरक से उद्धार करने मे समर्थ होता है। पुत्र का तो नाम इसी लिए पड़ा है कि वह पुत् (अर्थात् नरक) से त्राण करता है। यों तो मनुष्य अपने कर्मों के बल से ही पुण्य-पाप का भागी होता है, पुत्र किसी की क्या सहायता करेगा। और फिर सब पुत्र तो इस योग्य भी नहीं होते कि अपने को सँभाल सकें। जैसा कि बोधायनी गृह्य परिभाषा में लिखा है :

न मांसपिंडः पुत्री नाऽविद्वान्नाप्यकर्म्मकृत् ।
स्वयं न याति यः स्वर्गं पितरं तारयेत्स किम् ॥

"मांसपिण्ड पुत्र नहीं होता, न जो अविद्वान् और अधर्मचारी है वह पुत्र होता है। जो स्वयं स्वर्ग नहीं जायेगा, वह पिता को क्या तारेगा।"

फिर भी पुत्रोत्पत्ति के लिए लोग बड़े-बड़े यत्न करते हैं, न जाने कितने जप-तप करते-कराते हैं। कुछ नहीं होता तो दत्तक ले कर सन्तोष करते हैं।

जिन को पुत्र नहीं होता वह नाती से भी वैसी ही आशा रखते हैं, पुत्र के अभाव में नाती अपने नाना की सम्पत्ति का स्वामी भी होता है। यदि अतिशयोक्ति न मानी जाये तो नाती का पद पुत्र से भी बड़ा है—पुत्र तो पिता को ही सँभालता है परन्तु नाती पचीस पीढ़ियों तक का त्राण करता है।

विवाह के प्रसंग में देने की बात एक और स्थल पर भी आती है। उस का कन्यादान से कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु प्रसंगतः उस का भी उल्लेख कर देता हूँ। ऋग्वेद (१०।८५।४१) में सूर्या के विवाह के प्रसंग में वर कहता है :

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये ।
रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥

इस से पहले वाला मन्त्र कहता है :

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥

इस का तात्पर्य यह है कि हे कन्या, पहले सोम ने तुझे पाया, फिर गन्धर्व ने। तेरा तीसरा पति अग्नि हुआ और चौथा पति मनुष्य की सन्तान अर्थात् मनुष्य है।

इस का यह अर्थ नहीं हो सकता कि एक स्त्री के कई पति होते हैं या विवाह के पहले देवगण कन्या का भोग करते हैं। यह तो घोर पाप की

बात होगी। यहाँ पति का अर्थ पाता–रक्षक–ही हो सकता है। इस बात की पुष्टि बाद वाला मन्त्र करता है। उस का स्पष्ट अर्थ यह है कि कन्या के शैशव काल में सोम उस के रक्षक होते हैं, फिर वय बढ़ने पर वह इस भार को गन्धर्व को सौंपते हैं। इसी प्रकार और बड़ी होने पर गन्धर्व अग्नि को यह काम सुपुर्द करते हैं। जब कन्या वयस्का होती है तो अग्नि वर को कन्या और कन्या के साथ पुत्र और धन-सम्पत्ति दे कर भारमुक्त होते हैं। यह मन्त्र अब भी विवाह प्रकरण में पढ़े जाते हैं।

●

कन्यादान की वैधता

संस्कारगणपति के अनुसार ब्राह्मविवाह पंचांग होता है। पाँचों अंगों के नाम वाग्दान, प्रदान अर्थात् कन्यादान, वरण, पाणिग्रहण और सप्तपदी हैं। वाग्दान का अर्थ यह है कि कन्या का पिता यह वचन देता है कि दैवज्ञों के बतलाये शुभ दिन में वह अपनी कन्या का अमुक वर से विवाह कर देगा, वर का पिता भी इसी प्रकार का वचन देता है। विवाह के लिए जो दिन निश्चित हो चुका होता है उस के दो-चार दिन पहले वर के सम्बन्धी और मित्र कन्या के घर जाते हैं और कन्या के पिता से प्रार्थना करते हैं कि कन्या को अमुक वर को प्रदान कीजिए। इस का नाम वरण है। सब बात तो पहले से निश्चित रहती है, प्रार्थना स्वीकार कर ही ली जाती है। पाणिग्रहण, कन्यादान और सप्तपदी से सभी लोग परिचित हैं। पिछले अध्याय में कन्यादान का आवश्यक वर्णन कर भी दिया गया है।

कन्यादान, पाणिग्रहण और सप्तपदी का तो आज भी चलन है परन्तु वाग्दान और वरण का वह रूप अब नहीं रहा। कम से कम उत्तर भारत में तो वरण का लोप-सा हो गया है। वाग्दान है पर वह फलदान और तिलक में अन्तर्भूत हो गया है; इन में रुपयों की लेन-देन का महत्त्व अधिक है, अन्य बातों का कम। कन्या का पिता तो कुछ वचन देता भी है परन्तु यदि वर का पिता कोई प्रतिज्ञा करता है तो वह पुरोहितों के मुँह से निकले श्लोकों में ही रह जाती है। प्रसंगागत वैदिक मन्त्र यदि पढ़े भी जाते हैं तो उन की ओर कोई ध्यान नहीं देता। फिर भी इन दोनों कृत्यों का महत्त्व

हैं। यह प्राचीन परम्परा और विचारों पर प्रकाश डालते हैं और इन से शेष तीनों कृत्यों को समझने और उन की मीमांसा करने में सहायता मिलती हैं। विवाह को पंचांग कहने से यह बात निकलती है कि पाँचों अंग सम्बद्ध हैं और एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं। पीछे का कोई भी अंग हो, वह पूर्ववर्ती अंगों की आधारशिला पर ही स्थित रह सकता है।

कन्या का वर को दिया जाना कन्यादान है, यह तो हम देख चुके हैं। कभी-कभी एक मित्र दूसरे को कोई वस्तु भेंट कर देता है परन्तु ऐसी भेंट का कोई धार्मिक महत्त्व नहीं होता। कन्यादान का धार्मिक महत्त्व है। मित्र भेंट की हुई वस्तु को लौटा सकता है परन्तु दी हुई कन्या लौटायी नहीं जाती। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच कन्या का दान हो भी सकता है, क्या कन्यादान वैध दान है? हम इस प्रश्न पर कई दृष्टियों से विचार करेंगे।

यह तो मानी बात है कि उसी वस्तु का दान हो सकता है जो अपनी सम्पत्ति हो। सम्पत्ति हस्तान्तरण विधान (ट्रान्सफ़र ऑव प्रॉपर्टी ऐक्ट) कहता है कि "यदि एक व्यक्ति के द्वारा, जिसे दाता कहते हैं, दूसरे व्यक्ति को, जिसे आदाता कहते हैं, कोई चल या अचल सम्पत्ति इच्छापूर्वक और बिना किसी प्रत्युपकार की आशा के हस्तान्तरित की जाये तो इस हस्तान्तरण को दान कहते हैं।" अपनी टीका में डी० एफ़० मुल्ला कहते हैं कि आध्यात्मिक या नैतिक लाभ की आशा से किया गया हस्तान्तरण दान हो सकता है। इस विधान के अनुसार यदि अपना कोई ऐसा स्वत्व हो जो न्यायालय के सामने लाया जा सकता हो तो उस का भी दान हो सकता है। जैसे यदि किसी महाजन का किसी व्यक्ति पर रुपया बाक़ी हो तो वह इस ऋण का दान कर सकता है। इस विधान के अनुसार कन्या का दान तभी वैध हो सकता है जब वह या तो चल या अचल सम्पत्ति हो या न्यायालय के सामने लाने योग्य स्वत्व हो। यह स्पष्ट है कि कन्या इन दो में से एक भी नहीं है। आज-कल का विधान यह नहीं मानता कि कन्या पिता की

सम्पत्ति है, अतः कन्यादान अवैध है। परन्तु किसी प्राचीन प्रथा को आज-कल के विचारों की कसौटी पर कसना स्यात् न्याय्य न हो। इसलिए हम को यह देखना है कि हमारे प्राचीन शास्त्र इस विषय में क्या कहते हैं।

हेमाद्रि दानखण्ड ने देवल के इस वाक्य को उद्धृत कर के दान के सच्चे स्वरूप को बतलाया है:

पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनपेक्ष्य प्रयोजनम्।
केवलं त्यागबुद्ध्या यत् धर्म्मदानं तदुच्यते॥

"धर्मदान वह है जो केवल त्याग-बुद्धि से प्रयोजन की अपेक्षा न कर के सत्पात्रों को दिया जाता है।"

प्रयोजन की व्याख्या है: दृष्टफलानुसन्धान। अदृष्ट फल की आकांक्षा दान को दूषित नहीं करती। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है:

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ (१७।२०)

"उपयुक्त देश और काल में अनुपकारी (अर्थात् जिस से प्रत्युपकार की आशा नहीं है) पात्र को 'देना कर्तव्य है' इस बुद्धि से जो दिया जाता है वह सात्त्विक दान है।"

इन अवतरणों से शुद्ध दान के स्वरूप का, उस के अनुषंगियों का बोध तो होता है पर यह वैधानिक परिभाषाएँ नहीं हैं। गोविन्दानन्द ने दानक्रिया-कौमुदी में यह परिभाषा की है:

उद्देश्यगतस्वामित्वजनकत्यागो दानम्।

"दान वह त्याग है जो युगपत् उद्दिष्ट (नामांकित) व्यक्ति में स्वामित्व उत्पन्न करता है।"

इस का तात्पर्य यह है कि स्वामित्व दाता से आदाता में चला जाता है। वस्तुतः शब्दान्तर से आज-कल की क़ानूनी व्याख्या इसी को दुहराती है।

तब फिर प्रश्न यहाँ पर आ कर टिकता है कि क्या लड़की पिता की

सम्पत्ति है? क्या पिता का उस के शरीर पर स्वाम्य है? हम वशिष्ठ-स्मृति का वह वाक्य देख चुके हैं जिस में वह कहते हैं कि माता-पिता को सन्तान को बेचने, दान करने या अन्य प्रकार से त्याग देने का पूर्ण अधिकार है। निश्चय ही कभी ऐसा माना जाता होगा। शुनःशेफ की कथा वैदिक काल की है। उस के पिता ने उस को हरिश्चन्द्र के हाथ अग्नि को बलि देने के लिए बेच दिया था। पीछे से विश्वामित्र ने उसे बचाया। इस अवसर पर विश्वामित्र ने बहुत कड़ी भाषा में हरिश्चन्द्र और उन के पुरोहित की भर्त्सना की और अग्नि को भी बलि से भी वंचित रहना पड़ा। सम्भवतः तभी से नर-बलि और सन्तान-विक्रय की प्रथा बन्द हो गयी। बाद को सन्तान का बेचना अवैध हो गया और बड़े पातकों में गिना जाने लगा। मनु कहते हैं :

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णन् छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥

"विद्वान् पिता कन्या के लिए थोड़ा-सा भी शुल्क न ले। लोभवश शुल्क लेने से मनुष्य अपत्यविक्रयी – सन्तान बेचने वाला – हो जाता है।"

इस का तात्पर्य यह हुआ कि पिता अपनी लड़की को बेच नहीं सकता, अतः वह उस के शरीर का स्वामी नहीं है। जब कन्या उस की सम्पत्ति नहीं है तो उस का दान भी नहीं कर सकता।

सम्भव है इस पर यह आरोप उठाया जाये कि पिता का लड़की पर सीमित स्वत्व है। वह उस को बेच नहीं सकता परन्तु पुण्यार्जन के लिए उस का दान कर सकता है। मान लीजिए कि यह तर्क ठीक है। तब कन्यादान के द्वारा पिता इस सीमित स्वत्व को अपने जामाता को हस्तान्तरित कर सकता है। उस अवस्था में जामाता को यह अधिकार होगा कि इस स्वत्व को किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित कर दे। परन्तु पत्नी का दान निषिद्ध है। प्राचीन साहित्य में इस का स्यात् एक ही उदाहरण मिलता है। महाभारत में यह कथा आयी है कि किसी राजा

ने जिस का नाम मित्ररुह, सौदास या कल्माषपाद था, अपनी पत्नी मदयन्ती को वशिष्ठ को दान में दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथा अर्थवादात्मक है और इस का उद्देश्य दान की प्रशंसा करना है। स्त्री सर्वथा अदेय मानी जाती है और नारदस्मृति के अनुसार अदेय को देने और लेने वाले को राजदण्ड लगता है। अतः पति को पत्नी पर ऐसा कोई स्वत्व नहीं है। दूसरे शब्दों में उस को श्वसुर से ऐसा कोई स्वत्व नहीं मिला। इस का तात्पर्य यह हुआ कि पिता को कन्या पर ऐसा कोई स्वत्व—दान करने का अधिकार—नहीं है। पिता अपनी लड़की के शरीर का पूरा या आंशिक स्वामी नहीं माना जा सकता। इस लिए कन्या दान वैध नहीं है। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने महाभारत में उल्लेखयोग्य बात कही है। जब उन की बहन सुभद्रा का अर्जुन के साथ विवाह हुआ तो उन के भाई बलदेव तथा अन्य लोगों ने भी यह आपत्ति की कि विवाह सत्कुलोचित ब्राह्म ढंग से होना चाहिए था, इस पर श्रीकृष्ण ने कहा :

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते ।

"पशु की भाँति कन्या के दान का अनुमोदन कौन करता है।"

इस का भी तात्पर्य स्पष्ट है कि पशु सम्पत्ति हो सकता है, कन्या नहीं।

दूसरे प्रकार से विचार कर के भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। जहाँ स्वाम्य होता है वहाँ उपभोज्यता भी होती है अर्थात् वस्तु का स्वामी यदि चाहे तो किसी न किसी प्रकार अपनी सम्पत्ति का उपभोग कर सकता है। प्रश्न यह है कि क्या पिता को कन्या के शरीर पर ऐसा कोई अधिकार है? यदि लड़की यावज्जीवन अविवाहिता रह जाये तो क्या पिता उस के शरीर का कोई वैध उपयोग कर सकता है? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता। तब फिर यह नहीं कहा जा सकता कि पिता को कन्या के शरीर पर किसी प्रकार का स्वाम्य है।

दूसरे प्रमाण भी हम को इसी ओर ले जाते हैं। स्मृतियों और तत्सम दूसरी पुस्तकों में बार-बार यह कहा गया है कि ब्राह्म विवाह उसी

कन्या से हो सकता है जो प्रत्ता या दत्ता हो। इस में स्पष्ट ही कन्यादान की ओर संकेत है। रत्नाकर के अनुसार : प्रदानं स्वाम्यकारणम्। प्रदानेनैव कन्यायां वरस्य स्वाम्यं जायते दातुः स्वाम्यं निवर्तते—"प्रदान ही स्वाम्य का कारण है। प्रदान से ही कन्या में वर का स्वाम्य उत्पन्न होता है दाता का स्वाम्य निवृत्त होता है।" यही बात यम कहते हैं : नोदकेन विना चायं कन्यायाः पतिरुच्यते·· अनुत्पादितस्वत्वायाः कन्यायाः पाणिग्रहणसंस्कारात् पतिः स्वामिस्वत्ववान्न—"संकल्पपूर्वक कन्यादान के बिना यह (वर) कन्या का पति नहीं कहलाता···यदि इस प्रकार कन्या पर स्वत्व न उत्पादित हो गया हो तो पाणिग्रहण संस्कार-मात्र से पति कन्या का स्वामी नहीं हो सकता।" परन्तु हम पहले देख चुके हैं कि पिता स्वयं कन्या का स्वामी नहीं है अतः वह दूसरे को स्वाम्य कैसे हस्तान्तरित करेगा ? इस का तात्पर्य यह हुआ कि कन्यादान के द्वारा वर को कन्या पर कोई स्वत्व, कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता। इस दशा में कन्यादान निरर्थक कृत्य है।

अन्य प्रकार से भी इस मत की पुष्टि होती है। यह स्मृतिसम्मत लोकाचार है कि यदि सप्तपदी के पहले वर की मृत्यु हो जाये तो कन्या का दूसरा विवाह हो सकता है। इतना ही नहीं, याज्ञवल्क्य तो यहाँ तक कहते हैं :

दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्।

"यदि पहले से श्रेष्ठ वर मिल जाये, तो दी हुई कन्या को लौटा ले।"

यह आदेश तो बहुत अच्छा है परन्तु इस से कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़े होते हैं। स्वयं याज्ञवल्क्य ने अन्यत्र कहा है :

सकृत्प्रदीयते कन्या हरंस्तां चौरदण्डभाक्।

"कन्या एक बार दी जाती है, उस को हरने से चोरी का दण्ड लगता है।"

यदि कन्यादान से वर सचमुच कन्या का स्वामी हो जाता है तो फिर कन्या को हरने वाला निश्चय ही चोर है। परन्तु उस दशा में पिता उस

को लौटा कर दूसरे वर से, चाहे वह कितना भी योग्य क्यों न हो, कैसे विवाह कर सकेगा ? और फिर सप्तपदी के पहले वर के मर जाने पर उस का दूसरा विवाह कैसे हो सकेगा ? कन्यादान के बाद वह वर की सम्पत्ति हो गयी और वर के मरने पर वर के दायादों की, उस की अन्य सम्पत्ति पर सत्ताधारियों की सम्पत्ति हो गयी। वह चाहे जो करें परन्तु पिता का उस पर कोई अधिकार नहीं रहा। परन्तु स्मृतियों के स्पष्ट आदेश यह बतलाते हैं कि सप्तपदी तक पिता को अधिकार रहता है। अतः कन्यादान से वर को कन्या पर स्वाम्य नहीं प्राप्त होता, अन्यथा यह मानना पड़ेगा कि श्वसुर अपने जामाता का दायाद होता है, जो धर्मशास्त्र के सर्वदा विरुद्ध है।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्राचीनकाल में किसी को इस सम्बन्ध में शंका नहीं होती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्य में कर्क ने कन्यादान के प्रश्न पर सुन्दर विचार किया है। उन के तर्क की तह में वही सिद्धान्त है जिस के अनुसार आज भी सम्पत्ति का हस्तान्तरण होता है। वह कहते हैं :

'आदाय गृहीत्वेति चोभयं न वक्तव्यम्' उच्यते च तत्किमर्थम् ? अप्रतिग्रहस्यापि प्रतिग्रहविधिना आदानं यथा स्यादिति। स्वस्वत्वत्यागपूर्वकं हि परस्वत्वापादनं दानम्। न च कन्या कथंचिदप्यस्वकन्या कर्तुं शक्यते, नापि परस्य कन्या भवति, विवाहस्योत्तरमपि ममेयं कन्येत्यभिधानात्। अत्र गौणो ददातिः ॥

"ले कर, ग्रहण कर के, ऐसा नहीं कहना चाहिए। परन्तु कहा जाता है, वह क्यों ? इस लिए कि अप्रतिग्रह का भी प्रतिग्रह की विधि से आदान हो जाये। स्वस्वत्वत्यागपूर्वक दूसरे में स्वत्व का आपादन दान होता है। परन्तु कन्या कभी भी अस्वकन्या नहीं की जा सकती, न वह दूसरे की कन्या होती है। विवाह के पीछे भी पिता उस को 'मेरी कन्या' कहता है। यह 'दान' शब्द का प्रयोग गौण है।"

इस का अर्थ स्पष्ट है। कन्या सदा पिता की लड़की रहती है, पति की लड़की नहीं होती। जो सम्बन्ध पिता का उस के साथ विवाह के पहले था, वह पीछे भी बना रहता है। अतः न पिता किसी स्वत्व का त्याग करता है, न पति कोई स्वत्व प्राप्त करता है। इस लिए कन्यादान वास्तविक दान नहीं है। यों ही व्यवहार में इस को दान कहते हैं। यह उस ढंग की क्रिया है जिस को अँगरेज़ी क़ानून के शब्दों में 'लीगल फिक्शन', वैधानिक अलीक कहते हैं। ऐसे अलीकों से समाज में बहुत काम लिया जाता है। जिन स्त्रियों का आजन्म विवाह नहीं होता वह कभी-कभी कुमारीपन का दोष मिटाने को पेड़ से विवाह कर लेती हैं। कन्यादान भी ऐसा ही कृत्य है। लड़की का पितृगृह छोड़ कर पतिगृह में रहना कल्पित दान के द्वारा वैध बना दिया गया है।

और भी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न इस प्रसंग में उठते हैं। यदि कोई व्यक्ति उस भाव से दान देता है जिस का उपदेश श्रीकृष्ण ने गीता में किया है, यदि उस का स्वत्वत्याग शुद्ध दातव्यबुद्धि प्रेरित है, तब तो कुछ कहना नहीं है। वह अपने कर्तव्य का पालन कर चुका। यदि ऋतसत्यात्मक कर्मसिद्धान्त के अनुसार उस को इस कृत्य से पुण्य की उपलब्धि होती है तो वह उस को यदृच्छया ग्रहण कर लेगा। परन्तु यदि कोई वस्तु किसी फलविशेष की आकांक्षा से दान की जाये, चाहे वह फल भौतिक या दृष्ट न भी हो, तो फिर कई उलझनें उठ खड़ी होती हैं। आदाता को भी वह शर्त स्वीकार होनी चाहिए। यदि दाता एक उद्देश्य से दान करता है, आदाता किसी दूसरे उद्देश्य से ग्रहण करता है तब तो कठिनाई होगी। दान समीचीन होगा ही नहीं। किसी महत्त्वपूर्ण शास्त्र-सम्मत संस्कार की पद्धति में ऐसी द्विविधा के लिए स्थान नहीं होना चाहिए; परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि कन्यादान के विषय में गहरा द्वैविध्य है।

दाता का उद्देश्य तो कन्यादान के संकल्प से ही प्रकट हो जाता है। वह अपने लिए और अपने कुल के चौबीस अन्य व्यक्तियों के लिए नरक

से त्राण और स्वर्ग में अक्षय्य निवास चाहता है। परन्तु क्या आदाता भी कन्या को इसी लिए ग्रहण करता है? इस में सन्देह है।

पहली बात तो यह है कि वह अपने और पूर्वजों के लिए ऐसी सुविधाएँ चाहता है, मरने के उपरान्त ससुराल वालों की क्या गति होगी इस की उस को विशेष चिन्ता नहीं है। फिर इस स्थल पर हम को वाग्दान और वरण की ओर ध्यान देना चाहिए। यद्यपि आज-कल इन का महत्त्व पहले-जैसा नहीं है फिर भी विवाह के दूसरे अंगों पर इन से प्रकाश पड़ता है। इन में आने वाले मन्त्रों का अब भी थोड़ा-बहुत उपयोग होता है।

द्राह्यायण गृह्यसूत्र के अनुसार वर के सम्बन्धियों को चाहिए कि वर का नाम, गोत्र आदि बतला कर कन्या के पिता से कहें, धर्मप्रजार्थं वृणीमहे और कन्या का पिता कहे, दास्यामि। धर्म्मप्रजार्थं वृणीमहे का अर्थ हुआ: "हम धर्मप्रजा के लिए वरण करते हैं," अर्थात् इसलिए कि इस से धर्मप्रजा हो, ऐसी सन्तति जो धर्मशास्त्र के अनुसार औरस हो अथवा जो स्वयं धर्मचारिणी हो। कन्या का पिता 'दूँगा' कह कर इस माँग को स्वीकार करता है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में धर्मप्रजार्थं की जगह प्रजासहत्वकर्म्मभ्य: आया है। वरण के उपरान्त कन्या को कौषीतक गृह्यसूत्र के अनुसार यह आशीर्वाद दिया जाता है:

प्रजास्त्वयि दधामि, पशूंस्त्वयि दधामि, तेजो ब्रह्मवर्चस्यं त्वयि दधामि

"तुझ में प्रजा (सन्तति) धारण करता हूँ, तुझ में पशु (अर्थात् धन) धारण करता है, तुझ में ब्रह्मवर्चस्तेज धारण करता हूँ।" संकेत यह है कि विवाह के फलस्वरूप कन्या को यह वस्तुएँ प्राप्त होंगी।

संस्कार पद्धति के अनुसार वाग्दान के समय कन्या का पिता कहता है:

वाचा दत्ता मया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता त्वया।
कन्यावलोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखी भव॥

"कन्यावलोकन विधि के द्वारा आपने अपने पुत्रके लिए मेरी वाग्दत्ता कन्या को स्वीकार किया है। आप सुखी हों।" और वर का पिता कहता है:

वाचा दत्ता त्वया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता मया।
वरावलोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखी भव ।

"आपने वरावलोकन विधि से जो कन्या का वाग्दान किया उसे मैंने अपने पुत्र के लिए स्वीकार किया। आप सुखी हों।"

अग्निवेश्य गृह्यसूत्र के अनुसार विवाह के अन्त में वर कहता है : अनया सह मया कर्म्माणि कर्तव्यानि। प्रजाश्चोत्पादयितव्याः, तदर्थं एनां परिणेष्ये।

"इसके साथ मुझे (वैदिक) कर्म करने हैं और प्रजा (सन्तान) भी उत्पन्न करनी है, इसलिए इस से विवाह करता हूँ।"

वैदिक कर्म अर्थात् यज्ञ सस्त्रीक ही हो सकते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण का स्पष्ट कहना है कि : अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः—"जो पत्नीहीन है वह अयज्ञिय, यज्ञ का अनधिकारी हूँ।" इसीलिए वर कहता है कि मुझे इस के साथ कर्म करने हैं। यही बात ऋग्वेद के सूर्याविवाह प्रकरण में कही गयी है। वर कन्या से कहता है कि तुम वीरसू और देवकामा, वीर पुत्रों की माता और देवकार्य में चित्त देने वाली बनो।

इस सारी बात-चीत में कहीं कन्या के पिता के कुटुम्बियों की चर्चा नहीं है। वर के हित के लिए विवाह हो रहा है। ताकि उस को सन्तान हो और वह यज्ञ कर सके। यज्ञ करने का फल वर को ही मिल सकता है, उस के ससुराल वालों को नहीं। कहीं भी पंचमहायज्ञ या इष्टापूर्त के संकल्प में यह बात नहीं कही जाती कि इस कृत्य का फल यजमान के श्वसुर को मिले। वर कन्या का हाथ पकड़ते समय पाणिग्रहण के अवसर पर कन्या से कहता है :

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

(ऋक् १०।८५।३६)

"मैं तेरा हाथ सौभाग्य के लिए पकड़ता हूँ जिस से तू मुझ पति के

साथ वृद्धा हो (अर्थात् हम दोनों बहुत दिनों तक जियें) । भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि (पूषा) देवों ने तुझे मुझ को गार्हपत्य के लिए दिया है । इसलिए दिया है कि मैं गृहपति बनूँ ।"

वरण और वाग्दान में यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि वर कन्या को किसलिए चाहता है और कन्या के पिता ने उन शर्तों को स्वीकार किया है । उस ने किसी स्थल पर दूसरी शर्त नहीं रखी, अपने या अपने पूर्वजों के हित का नाम नहीं लिया, नहीं तो सम्भव था कि वर पक्ष इस शर्त पर कन्या का ग्रहण न करता । अब सब बातों के तय हो जाने पर वह किसी नयी शर्त का प्रक्षेप नहीं कर सकता । वह यह नहीं कह सकता कि मैं इस कन्या को अपने कुल के कुछ व्यक्तियों के हित के लिए दे रहा हूँ । कन्यादान का संकल्प उन बातों के प्रतिकूल है जिन के आधार पर विवाह निश्चित हुआ था, अतः कन्यादान अवैध है ।

प्राचीनकाल में ऐसा नहीं था । आज जो उद्देश्य संकल्प में बताया जाता है वह पीछे से जोड़ा हुआ प्रतीत होता है । कन्यादान के पुराने संकल्प का रूप वैखानस गृह्यसूत्र में मिलता है । उस के अनुसार कन्या का पिता कन्या इसलिए देता है : **अस्य सहधर्म्मचारिणी भवतीति ब्राह्मे विवाहे धर्म्मप्रजासम्पत्त्यर्थं यज्ञापत्त्यर्थं ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थं**–"इस की सहधर्मचारिणी हो इसलिए ब्राह्मविवाह में धर्मप्रजा की उत्पत्ति के लिए, यज्ञ सम्पादन के लिए और ईश्वर, देवगण, ऋषिगण और पितृगण की तृप्ति के लिए (वर को कन्या देता है) ।" यह संकल्प परिपूर्ण है और सर्वथा वेदसम्मत है तथा वरण, वाग्दान और पाणिग्रहण में जो सिद्धान्त अन्तर्हित हैं उन के अनुकूल है ।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए डॉक्टर आल्टेकर ने 'दि पोजिशन ऑव विमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन' में जो यह मत प्रकट किया है वह ठीक प्रतीत होता है :

"यह बतला देना चाहिए कि कन्या का दान उपचारमात्र था ।

उस से पति को यह अधिकार नहीं मिलता था कि पत्नी से चाहे जैसा वर-ताव करे। जिस वस्तु को मनुष्य यज्ञाग्नि के सामने पवित्र दान के रूप में प्राप्त करता है वह वस्तुतः ऐसी थाती है जिस के समुचित प्रतिपालन के लिए वह ईश्वर के प्रति दायी है।" सच बात तो यह है कि न केवल पति वरन् दम्पती अपने ऊपर एक पवित्र कर्त्तव्य लेते हैं। वह यह संकल्प तो करते नहीं कि हम वधू के पिता और उन की आगे-पीछे की पीढ़ियों को पापों के दण्ड से मुक्त करा देंगे, हाँ उन कर्मों का व्रत लेते हैं जो प्रत्येक गृहस्थ के लिए करणीय हैं। ऐसे कर्मों का याज्ञवल्क्यस्मृति के पंचम अध्याय में विशद वर्णन है और कालोचित व्याख्या के साथ उन का महत्त्व आज भी उतना ही है।

थोड़ी देर के लिए हम कन्यादान की वैधता के प्रश्न को छोड़ देते हैं और इस बात पर विचार करेंगे कि उस से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है।

ऐसा माना जाता है कि कन्यादान से वर कन्या का स्वामी बन जाता है, हम इस मत की आलोचना कर चुके हैं और यह दिखला चुके हैं कि वर कभी भी कन्या का स्वामी नहीं होता। इस दृष्टि से तो कन्यादान निरर्थक है। अब यदि यह निश्चय हो कि वर-कन्या को पति-पत्नी बनाने में कन्यादान का कोई उपयोग हो तब भी उस की सार्थकता हो सकती है। वर-कन्या में पतित्व और पत्नीत्व किस क्षण में आता है इस सम्बन्ध में शास्त्रों का एक मत नहीं देख पड़ता। द्राह्यायण गृह्यसूत्र की वृत्ति में वरण का वर्णन करते हुए रुद्रस्कन्द ने पत्युर्ज्ञातयः—'पति के जातिवाले'—प्रयोग किया है। यह लोग वध्वाः—'वधू के'—घर जाते हैं। कन्यादान होने के पहले ही पति और वधू शब्दों का व्यवहार विचित्र है। इस से इतना तो प्रतीत होता है कि सामान्य बोलचाल में ऐसा प्रयोग हो जाता था।

एक और विचारणीय बात है। यदि यह मान भी लिया जाये कि कन्यादान से किसी प्रकार के स्वत्व का उत्पादन होता है तो यह काम एकांगी होगा। वर को तो कन्या पर अधिकार मिला परन्तु कन्या को

क्या मिला ? उस के लिए 'अधिकार' शब्द का व्यवहार उतना ही उचित होगा जितना कि पाले हुए पशु के लिए। यदि यह माना जाये कि गाय बकरी को अपने स्वामी से भरण-पोषण पाने का अधिकार पत्नी को भी वर से होगा। इसीलिए वह भार्या कहलाती भी है। एक अन्तर है। भेड़ बकरी को सब कुछ चुपचाप सहना पड़ता है, भार्या रोटी कपड़े के लिए न्यायालय के द्वार खटखटा सकती है।

विवाह का समानार्थक उद्वाह है। इन शब्दों का व्यवहार शिक्षित, अशिक्षित, बाल, वृद्ध सभी करते हैं और इन का अर्थ भी सुबोध, सब का जाना हुआ है। परन्तु जो वस्तु सामान्य मनुष्य को सुबोध लगती है उसी में कभी-कभी विद्वानों को शंका हो जाती है। साधारण मनुष्य ऐसा मानता है कि विवाह वह कृत्य या उपचार है जिस के परिणामस्वरूप स्त्री-विशेष पुरुष-विशेष की पत्नी और वह पुरुष उस का पति हो जाता है। स्मृतितत्त्वम् के अनुसार भार्य्यात्वसम्पादकं ग्रहणं विवाहः— "भार्य्यात्व (और अर्थापत्ति से पतित्व) सम्पादक ग्रहण को विवाह कहते हैं।" यह परिभाषा तो बोलचाल के अनुकूल ही है, परन्तु इस में ग्रहण-शब्द विचारणीय है। ग्रहण से यह ध्वनि निकलती है, किसी से ग्रहण, किसी से स्वीकृति या प्राप्ति। विवाह के लिए यह आवश्यक होगा कि कोई किसी से कुछ ले। विवाह की समूची पद्धति में देने-लेने की बात वरण, वाग्दान और कन्यादान में देखी जाती है। कन्यादान प्रकरण में वर को प्रतिग्रहीता कहा भी जाता है। तो क्या इस से यह मान लिया जा सकता है कि कन्यादान पर विवाह सम्पूर्ण हो जाता है अर्थात् पाणिग्रहण और सप्तपदी के पहले ही सम्पन्न हो जाता है? इस कल्पना का समर्थन एक अप्रत्याशित स्थल से मिलता है। हरिवंश महाभारत का पूरक ग्रन्थ माना जाता है और पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। लोगों को ऐसा विश्वास है कि उस को पढ़ने और सुनने तथा उस की प्रति ब्राह्मण को देने से निःसन्तानों को भी सन्ततिलाभ होता है। उस में त्रिशंकु उपा-

४

ख्यान नाम की कथा आयी है। इस का संक्षिप्त कथानक यह है कि राजा त्रय्यारुण के लड़के सत्यव्रत ने किसी लड़की को विवाहमण्डप से हर लिया। उस के इस कृत्य से रुष्ट हो कर पिता ने घर से निकाल दिया और जंगल में श्वपचों के साथ रहने का आदेश दिया। अन्त में विश्वामित्र की सेवा से उस के पाप का प्रायश्चित्त हुआ। सत्यव्रत के इस निन्दनीय कार्य का वर्णन इन शब्दों में किया गया है :

पाणिग्रहणमन्त्राणां विघ्नं चक्रे स दुर्मतिः।
येन भार्य्या हृता पूर्वं कृतोद्वाहा परस्य वै॥

"उस दुर्मति ने जिस ने पहले से उद्वाह की हुई दूसरे की भार्या को हर लिया था पाणिग्रहण मन्त्रों में विघ्न डाला।"

इस श्लोक की भाषा अद्भुत है। हरिवंश-जैसी प्रशस्त पुस्तक में आने से विचार को और भी खींचती है। एक स्त्री किसी की भार्या थी, इतना कहना ही पर्याप्त था परन्तु कृतोद्वाहा (उद्वाह की हुई, विवाहिता) कह कर उस बात की और पुष्टि कर दी गयी। विवाहिता भार्या कहना वैसा ही है, जैसे आज-कल पत्नी की जगह धर्मपत्नी कहने का चलन बढ़ गया है। अस्तु, जब भार्या हरी गयी तो विवाह के पीछे ही ऐसा हुआ होगा। परन्तु यहाँ कहा गया है कि पाणिग्रहण मन्त्रों में विघ्न डाला गया, पाणिग्रहण नहीं होने पाया। तो फिर क्या पाणिग्रहण के पहले ही स्त्री भार्या हो जाती है और विवाह पूरा हो जाता है? यदि ऐसा होता है तो फिर पाणिग्रहण और सप्तपदी का उपयोग क्या है?

ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह शब्द के शास्त्रीय अर्थ में काल पा कर कुछ परिवर्तन हुआ है। स्मृतितत्त्वम् के अनुसार विवाहस्तु पाणिग्रहणात्पूर्वं वृत्त एव—"विवाह तो पाणिग्रहण के पूर्व ही हो चुकता है।" यह वाक्य हरिवंश में दिये हुए प्रयोग के अनुसार है। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिग्रहण के पूर्व के तीनों कृत्यों—वरण, वाग्दान और कन्यादान—के समुच्चय को किसी समय विवाह कहते थे। परन्तु यह नहीं पता चलता

कि पाणिग्रहण और सप्तपदी का कोई संयुक्त नाम था या नहीं। यह भी ज्ञात नहीं होता कि सम्पूर्ण कृत्य को क्या कहते थे। यह तो स्पष्ट ही है कि विवाह शब्द का यह प्रयोग संस्कारगणपति के इस कथन के सर्वथा प्रतिकूल है :

वाग्दानं च प्रदानं च वरणं पाणिपीडनम्।
सप्तपदीति पञ्चाङ्गो विवाहः परिकीर्तितः॥

"विवाह पंचांग कहलाता है। उस के यह अंग हैं : वाग्दान, प्रदान, (कन्यादान), वरण, पाणिपीडन (पाणिग्रहण) और सप्तपदी।"

इसी प्रकार मनु ने एक जगह विवाह शब्द का भ्रमोत्पादक प्रयोग किया है। वह कहते हैं : स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे— "नारी विवाह से सातवें पद पर अपने गोत्र से पृथक् होती है।" अर्थात् पति के गोत्र में मिल जाती है। 'विवाह से सातवें पद पर' का कुछ ठीक अर्थ नहीं लगता। सातवाँ पद तो सप्तपदी का अन्तिम पद हुआ। यदि यह विवाह से सातवाँ पद है, तो फिर विवाह किस को कहते हैं? क्या पाणिग्रहण की समाप्ति का नाम विवाह है। यह भी बोलचाल का ढीला प्रयोग है, शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से ठीक नहीं है।

यह प्रायः सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि सप्तपदी के अन्तिम पद पर विवाह की विधि पूरी होती है। स्मृतितत्त्वम् के अनुसार कृत्स्नं हि जाया-पतित्वं सप्तमे पदे—"सम्पूर्ण जायापतित्व (पति-पत्नीसम्बन्ध) सप्तम पद पर (उत्पन्न होता है या सम्पन्न होता है)।" मनु भी कहते हैं :

पाणिग्रहणिका मन्त्राः नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥

"पाणिग्रहण के मन्त्र निश्चय ही पत्नीत्व के लक्षण हैं। विद्वान् लोग जानते हैं कि उन की निष्ठा (उन की समाप्ति) सप्तम पद पर होती है।"

इसी बात को यम भी कहते हैं :

नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरिष्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे॥

"उदक (कन्यादान) या वाग्दान से कन्या का पति नहीं कहलाता। पतित्व पाणिग्रहण संस्कार से सातवें पद पर होता है।"

यहाँ 'पाणिग्रहण संस्कार से' कहना कुछ अनावश्यक-सा प्रतीत होता है और भ्रामक भी हो सकता है। सप्तम पद तो सप्तपदी का अंग है। मनुस्मृति के भाष्य में कुल्लूक भट्ट ने इस के पहले दिये श्लोक के पाणिग्रहणिकामन्त्राः' (पाणिग्रहण के मन्त्र) की व्याख्या वैवाहिक मन्त्र किया है। उन का तात्पर्य है कि ऐसे स्थलों में विवाह की जगह पाणिग्रहण लिख दिया गया है। यही बात यमस्मृति से उद्धृत श्लोक के लिए भी लागू है।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि पति-पत्नी सम्बन्ध सप्तपदी के अन्तिम पद पर स्थापित होता है। इस के पहले जो कुछ होता है वह प्रस्तावना मात्र है। आधुनिक व्यवहार भी यही है, न्यायालय भी इसी बात को मानते हैं। सम्पत्ति-सम्बन्धी बहुत-से अभियोगों की सफलता असफलता इसी बात पर टिकती है कि सप्तपदी यथावत् हुई या नहीं। यदि इस में कुछ भी त्रुटि प्रमाणित हुई तो ऐसा माना जायेगा कि विवाह हुआ ही नहीं।

कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि कन्या तो सप्तपदी के बाद ही भार्या होती है परन्तु वर कन्यादान के साथ ही उस का स्वामी हो जाता है। पर यह पक्ष तो सर्वथा अमान्य है। पहले तो मैं यह दिखला आया हूँ कि कोई व्यक्ति स्त्री के शरीर का कभी भी स्वामी नहीं हो सकता। दूसरे, यह प्रश्न उठता है कि कन्यादान और सप्तपदी के बीच में वैधानिक अवस्था क्या है? वर स्वामी है पर पति नहीं है, कन्या सम्पत्ति है परन्तु पत्नी नहीं है। क्या वास्तविक स्थिति ऐसी ही है? मान लीजिए कि कन्यादान के बाद ही कोई वर उठ खड़ा हो और शेष कृत्य रोक दे तो क्या होगा। स्त्री उस की भार्या तो हुई नहीं, इस लिए उस को पत्नी के अधिकार प्राप्त नहीं हुए। वह वर की सम्पत्ति हो गयी। उस को इस बन्धन से छुड़ाने की कोई विधि शास्त्रों में नहीं दी है। तो क्या वर उस को अपने

घर क्रीत दासी की भाँति ले जा सकता है ? यदि **प्रदानः स्वाम्यकारणम्**— का सिद्धान्त ठीक है तो उस को ऐसा अधिकार होना चाहिए। परन्तु यह तो शास्त्रों का उद्देश्य नहीं हो सकता। देव, ऋषि, पितृगण इस लिए तो नहीं पुकारे जाते कि किसी पुरुष के हाथ में दासी, या गाय बकरी की भाँति सम्पत्ति के रूप में एक निरीह अबला सौंप दी जाये। इस का बचाव यों कह कर नहीं किया जा सकता कि वर कन्यादान पर केवल स्वामी होता है, पति सप्तपदी पर होता है, परन्तु कन्या कन्यादान के साथ ही पत्नी हो जाती है। **भार्य्यात्वानुनिष्पादि पतित्वम्**—"भार्यात्व के साथ ही पतित्व निष्पन्न होता है।" यहाँ 'अनु' का अर्थ क्षणान्तर नहीं प्रत्युत युगपत् ही करना होगा। पति और पत्नी, भर्ता और भार्या, अन्योन्याश्रित हैं, इन में अन्वयव्यतिरेकी सम्बन्ध है। जहाँ एक होगा, वहाँ दूसरा होगा। न बिना भार्या के भर्ता हो सकता है, न बिना भर्ता के भार्या हो सकती है। अतः कन्यादान यह नहीं कर सकता कि वर को स्वामी तो बना दे पर कन्या को भार्या न बनाये। परन्तु जब यह स्पष्ट है कि कन्या सप्तपदी के अन्तिम पद पर ही भार्या होती है तो वर भी उसी समय भर्ता होता होगा। कन्यादान से वर को कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता।

इन सब तर्कों से यह स्पष्ट है कि कन्यादान से न किसी स्वत्व का सर्जन होता है न विसर्जन और न हस्तान्तरण। कन्यादान के पूर्व और पश्चात् वर और कन्या के परस्पर सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उन में कोई नया सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। यदि कन्यादान इस उद्देश्य से किया जाता हो कि पिता और उस के पूर्व तथा परवर्ती कुटुम्बियों को अपने पापों से छुटकारा पाने का सस्ता उपाय हाथ लग जाये तो इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कन्यादान के यही अभिप्राय हैं तो वह निष्फल क्रिया है और किसी प्रकार की हानि की आशंका के बिना विवाह की पद्धति से निकाली जा सकती है।

●

कन्यादान का वास्तविक भाव

तीसरे अध्याय को पढ़ने के बाद सम्भव है ऐसा प्रतीत हो कि मैं कन्यादान को व्यर्थ समझता हूँ और यह चाहता हूँ कि विवाह की पद्धति में से उसे निकाल दिया जाये। वस्तुतः मेरा यह अभिप्राय नहीं है। मेरी शिकायत यह है कि हम कन्यादान के वास्तविक भाव को भूल गये हैं। मेरा अभियोग यह है कि हिन्दू समाज के सहज नेताओं, हमारे ब्राह्मणों ने हमारे बहुत से कृत्यों और संस्कारों को, जिन में-से कन्यादान भी एक है, तमाशा बना डाला है। कुछ थोड़े से वैदिक मन्त्रों में बहुत से नये अनुष्टुप् श्लोक मिला दिये गये, यज्ञ जो मुख्य कृत्य था एक कोने में डाल दिया गया, वैदिक देवताओं को पौराणिक देव-देवियों ने दबा लिया। इस प्रकार समूचा रूप ही बदल जाता है। आर्यजाति के पूर्व पुरुषों, ऋषियों और मनुओं का उद्देश्य लुप्तप्राय हो जाता है और उन की जगह क्षुद्र भावनाएँ बैठा दी जाती हैं। आज हिन्दू विवाहपद्धति नीरस हो गयी है और उस से जी ऊब उठता है। उभय पक्ष के पुरोहित न जाने क्या पढ़ते हैं जिस का वर-कन्या से कोई सम्बन्ध नहीं देख पड़ता, कुछ वाक्यों का अनुवाद मातृभाषा में कर भी दिया गया तो ऐसा करने का ढंग प्रभावोत्पादक नहीं होता।

मेरा आक्षेप संस्कृत भाषा पर नहीं है। मेरी राय है कि संस्कृत का ही व्यवहार होना चाहिए अन्यथा हिन्दू विवाह में संस्कार का रूप ही न रह जायेगा। प्रदेश-प्रदेश, वर्ण-वर्ण की अलग भाषा हो कर विवाह साधारण व्यापारी इक़रारनामों-जैसी चीज़ बन जायेगा। लैटिन भाषा का प्रयोग

पृथ्वी-भर के रोमन कैथलिक करते हैं परन्तु अपने संस्कारों के गाम्भीर्य को नहीं बिगड़ने देते। आवश्यकता इस बात की है कि पुरोहितवर्ग, और उस से भी पहले हमारा पण्डितसमाज, स्वयं विवाह के अंगों के भेद को समझे और फिर विवाह काल में वर-कन्या को समझाये।

मेरी समझ में कन्यादान का महत्त्व बहुत बड़ा है। हम देख चुके हैं कि विवाह पंचांग है। पहले के दो अंगों में वर-कन्या के अभिभावकों और दूसरे गुरुजनों में बातचीत हुई है। उन्हों ने सब बातों को देख कर सम्बन्ध स्थिर किया है। ऐसा मानना चाहिए कि भावी दम्पती को इन बातों का पता होगा परन्तु अब तक प्रत्यक्ष रूप से उन का काम नहीं पड़ा। यह बात अब तीसरे अंग, कन्यादान में होती है। वर और कन्या का एक-दूसरे से परिचय होता हैं। परन्तु केवल इतनी बात नहीं है। परिचय के साथ-साथ कन्या का पिता वर से यह प्रार्थना करता है कि आप इस कन्या को ले लीजिए और वर इस प्रार्थना को स्वीकार करता है। यही प्रतिग्रह हैं। परन्तु प्रतिग्रह—कन्या को देने और लेने—का उद्देश्य वह नहीं हैं जो आज लोक में प्रचलित है। पिता का कन्या पर कोई स्वत्व नहीं है जिसे वह वर को हस्तान्तरित कर सकता हो। यह भी नहीं है कि लड़की उस के लिए भार हो गयी है, वह इस बोझ को दूसरे के कन्धों पर फेंकना चाहता है। बात दूसरी ही है। कन्या का पिता वर को अधिकार नहीं वरन् कर्तव्य सौंपना चाहता है। देने-लेने का इस प्रसंग में यही अर्थ है। अब तक उस ने लड़की का भरण-पोषण किया और उस को ऐसी दैहिक और बौद्धिक शिक्षा दी कि वह समाज में अपने यथोचित स्थान को प्राप्त करना तभी पूरा होता है जब उस स्थान के उपयुक्त कर्तव्यों का पालन किया जा सके, नहीं तो ऊँचे से ऊँचे स्थान से भी स्खलन होता है। अब वयस्का होने पर लड़की को जिन कर्तव्यों का वहन करना है वह पति के साथ ही उठाये जा सकते हैं। जिस दिन के लिए पिता ने कन्या को पाला था, वह दिन आया। यह उस का सौभाग्य

है कि वह उस के लिए योग्य वर, अनुरूप जीवनसंगी ढूँढ़ सका। अब वह उन दोनों को धर्म की दुर्गम घाटी में प्रवेश करने का आह्वान करता है। सचमुच धर्म का पथ क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया—"छुरे की पतली तीखी धार है।" कभी-कभी पारिजात की मधुर गन्ध भी आ जाती है परन्तु कर्तव्य का पालन करना काँटों की सेज पर सोने के समान है। वर-कन्या को अब इस पथ का पथिक बनना है। कन्यादान में उन को इस की सूचना दी जाती है। अब तक का उन का जीवन इस के लिए तैयार था। कन्यादान दान नहीं समर्पण है। कन्या समर्पित की जाती है परन्तु वर की सेवा के लिए नहीं, वर के माध्यम से सनातन, शाश्वत धर्म की सेवा के लिए।

दम्पती का पहला कर्तव्य गृहस्थाश्रम को अक्षुण्ण रखना है। स्त्री और पुरुष का रतिसम्बन्ध तो पशु-पक्षियों के ढंग पर भी हो सकता है। वासना से प्रेरित हो कर मिल जाना और फिर अलग हो जाना सम्भव है परन्तु इस आधार पर समाज नहीं टिक सकता। बड़े पशु-पक्षी तक में कौटुम्बिक जीवन का सरल रूप विद्यमान है, बर्बर मनुष्य भी कुटुम्ब बना कर रहता है। और जहाँ कुटुम्ब है, वहाँ कर्तव्यों की शृंखला है। और स्वेच्छाचारिता पर अंकुश है। मनु कहते हैं :

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यः तेभ्यः कार्य्यं विजानता॥

"जैसे सब प्राणी वायु के आश्रित हो कर जीते हैं, इसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थ के आश्रित हो कर जीते हैं। ऋषि, पितृ, देव, इतर प्राणी, अतिथि सब कुटुम्बियों से आशा रखते हैं। ज्ञानी को उन के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।"

जंगली अवस्था में जहाँ सब केवल अपने लिए जीते हों मनुष्य चाहे जैसे

रह ले परन्तु समाज में तो सब का सब से सम्बन्ध है। यदि समाज को उन्नत रखना है तो विद्यार्थियों के लिए, श्रमिकों के लिए, सैनिकों के लिए, विद्वानों के लिए, धर्माचार्यों के लिए, रोगियों के लिए, वृद्धों के लिए भोजनादि की व्यवस्था करनी होगी, जो छोटा है उस को कर्तव्य सिखाना होगा, जो सेवा करके श्रान्त हो गया हो उस को आराम करने देना होगा। यह सब तभी होगा जब सब लोग अपने नागरिक कर्तव्यों को पहचानें और उन का पालन करें। नागरिक पर ही समाज अवलम्बित है। आज-कल की भाषा में मनु के कथन का यही अर्थ है। घर में रहने से गृहस्थ नहीं होता, गृही के कर्तव्यों का पालन करने वाला ही गृहस्थ है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः—"पत्नी-हीन पुरुष यज्ञ का अधिकारी नहीं होता।" रामचन्द्रजी को सीता की स्वर्णप्रतिमा बैठानी पड़ी थी। यज्ञ केवल उस कृत्य को नहीं कहते जिस में मन्त्र पढ़ कर आग में आहुति डाली जाती है। जो कोई भी काम शुद्ध बुद्धि से किया जाये वह यज्ञ हो सकता है परन्तु उत्कृष्ट यज्ञ वह है जो परार्थ किया जाये। भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में यज्ञ के कई प्रकार गिनाये गये हैं। यज्ञ तभी सम्पूर्ण होता है जब बलि दी जाये, निरीह पशुओं की नहीं वरन् अपने अधम स्व की, अपनी काम, क्रोध, लोभमयी प्रवृत्तियों की। इस बलि से जो शक्ति उत्पन्न होती है वही यज्ञ को सम्पन्न कराती है। वेद कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में जीवों के कल्याण के लिए देवों ने यज्ञ किया था। यह विश्व शिव-शक्ति का महायज्ञ है, इसलिए यज्ञ में पति-पत्नी का योग होना ही चाहिए। दो शरीर परन्तु चित्त एक, संकल्प एक, लक्ष्य एक। तभी यज्ञ पूरा उतरता है। जहाँ तक यज्ञ-दृष्टि से संसारी कामों के करने की बात है; यह कौन नहीं जानता कि स्त्री ऐसे कामों में अमूल्य सहायता दे सकती है। कान्तासम्मित रूप से, प्रेम से, भर्त्सना करती है, परामर्श देती है, उत्साह बढ़ाती है, चिन्ता बाँट लेती है। स्त्री का जीवन त्याग और तपस्या की कहानी है, वह

पुरुष को भी मूकभाषा में यह पाठ पढ़ाती है। इसीलिए स्त्री को सहधर्मिणी कहते हैं। न तो पुरुष के बिना स्त्री समीचीन रूप से कर्तव्यपथ पर आरूढ़ हो सकती है, न स्त्री के बिना पुरुष।

प्राचीन काल में जब स्नातक विद्या प्राप्त कर के गुरुकुल से विदा होने लगता था तो उस को अन्य बातों के साथ गुरु यह आदेश भी देता था : प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः—"प्रजातन्तु, सन्तानोत्पादन के क्रम को, मत काटो।" जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वज सन्तति छोड़ गये वैसे तुम भी छोड़ जाओ। हम पहले दिखला चुके हैं कि पत्नी और सन्तान के बिना पुरुष तथा पति और सन्तान के बिना स्त्री अकृत्स्न, अपूर्ण है। मनुष्य के कई ऐसे गुण हैं जो समाज की व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक हैं परन्तु उन का विकास एकाकी नहीं हो सकता, कुटुम्ब के भीतर रह कर ही उन के पनपने का अवसर मिलता है। सब से अलग रह कर उदारता का अभ्यास नहीं हो सकता। दूसरों के लिए अपने सुख को छोड़ देना, दुर्बलों की शुश्रूषा करना, अशक्तों को शक्त बनाना, जो कुछ हो बांट कर भोगना—इन की शिक्षा गृहस्थी में ही मिलती है। आज-कल यह भाव बढ़ रहा है कि विवाह हो पर सन्तान न हो। यह भाव समाज के लिए घातक होगा। एक और बात है। दम्पती को प्रजापति और जगद्धात्री का काम करना है, परमात्मा जीवों की सृष्टि नहीं करता, अभाव से भाव नहीं उत्पन्न करता, न वह लीला के लिए, खेल देखने के लिए, जगत् का निर्माण करता है। जीव अनादि हैं। उन को अपने कर्मों के संस्कारों के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त करने हैं। फलभोग के अनुकूल जगत् बने बिना रह नहीं सकता। परमात्मा निमित्तमात्र है। न जाने कितने शरीरों में भ्रमण करके किसी जीव के मनुष्य शरीर में आने का योग उत्पन्न होता है। ऐसे शरीर को बनने के लिए दम्पती का, पिता-माता बनने को प्रस्तुत पुरुष और स्त्री का, होना अनिवार्य है। इन की सहायता के बिना जीव को मनुष्य-शरीर नहीं मिल सकता। पितृत्व, बाप-मां होना, आकस्मिक

घटना नहीं है, वह तो बहुत बड़ा दायित्व है जो इच्छापूर्वक अपने ऊपर लिया जाता है। बच्चे के प्रसव से ही दायित्व समाप्त नहीं होता, उस को ऐसी शिक्षा-दीक्षा करनी है जिस से न केवल यह जन्म प्रत्युत आगे के लिए भी उस का जीवन सुधरे। माता-पिता को यह समझना है कि भगवान् ने हमारा बहुत बड़ा विश्वास कर के हम को यह थाती सौंपी है। हमारा धर्म है कि इसे उन्नत बना कर तब लौटायें। पिता अपने क्षेत्र में प्रजापति, माता आद्यशक्ति हैं।

और फिर स्त्री को इस प्रकार जीवन निर्वाह करना है कि न केवल उस को प्रत्युत उस के पति को परम पुरुषार्थ, जीवन का चरम ध्येय, मोक्ष प्राप्त हो। दुर्गासप्तशती के अर्गलास्तोत्र में पत्नी को तारिणीं दुर्गसंसार-सागरस्य—"दुस्तर संसारसागर से पार उतारने वाली" कहा है। सती इस जगत् में ब्रह्मा की उत्कृष्टतम रचना है, वह भगवती पार्वती का स्वरूप है; पति, सन्तति, कुल, राष्ट्र को पुनीत करने वाली धर्म की चल प्रतिमा है; पति के लिए इस लोक और परलोक का सम्बल है; उस के चरणों पर देवों के भी सिर झुकते हैं।

इन्हीं कर्तव्यों के पालन करने के लिए पिता ने लड़की को अपने घर पर तैयार किया था। पिता-माता के चारित्र्य और उपदेशों ने अब उस को इस योग्य बनाया है कि वह उन कृत्यों का बोझ अपने कन्धों पर ले जो पितृगृह में रह कर नहीं उठाये जा सकते। कन्यादान में पिता उस को उस पुरुष से मिलाता है जो उस की प्रतीक्षा कर रहा था, जो धर्मपथ पर उस का साथी होगा, जो भार एक से नहीं उठ सकता उस को दोनों मिल कर उठायेंगे। उपनयन के समय वर का दूसरा जन्म हुआ था। उस ने सहज सरल पथ को, उस स्वार्थमूलक पथ को जिस पर पशु भी चल सकता है, छोड़ कर धर्ममय, उत्सर्गमूलक जीवन बिताने का व्रत लिया था। उसी प्रकार कन्यादान कन्या की दीक्षा है। वह भी अब से इस कँटीले मार्ग की व्रती बनती है।

कन्यादान का यही महत्त्व है। यह बड़े दुःख की बात है कि समाज ने इसे भुला दिया है। जो लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने जा रहे हैं उन को इस क़दम के उठाने की गुरुता का बोध नहीं कराया जाता और वह बिना यह समझे हुए कि कितने बड़े दायित्व का बीड़ा उठाने जा रहे हैं विवाह को हँसी-खेल मान बैठते हैं।

विवाह की पद्धति कन्यादान पर समाप्त नहीं हो सकती। कन्या के पिता ने वर से प्रार्थना की कि वह कन्या को स्वीकार करे ताकि दोनों मिल कर गृहस्थधर्म को प्रशस्त करें और वर ने अपनी स्वीकृति दे दी। पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। जब दो व्यक्तियों को मिल कर कोई काम करना है तो दोनों की स्वीकृति होनी चाहिए। सारे जीवन का सौदा है। जब दो प्राणी एक साथ रहेंगे तो दोनों को एक दूसरे का लिहाज़ करना होगा। एक को दूसरे के व्यक्तित्व का आदर करना होगा, दोनों को नियत सीमा के भीतर स्वतन्त्रता मिलनी होगी। स्वेच्छाचारिता बुरी चीज़ है परन्तु पराधीनता भी उतनी ही बुरी चीज़ है। सर्वं परवशं दुःखम्! जिन शर्तों पर पति-पत्नी को साथ रहना है उन की व्यवस्था पाणिग्रहण में की गयी है। दोनों ओर से वचन प्रतिवचन होते हैं ताकि आगे चल कर स्नेह का धागा टूट न जाये। वर कन्या से कहता है ध्रुवं पश्य—"ध्रुव को देखो।" ध्रुव उन के निश्चल, अटल प्रेम का प्रतीक है। कन्या अश्म, पत्थर पर खड़ी होती है। यह पत्थर यह पुकार कर कहता है कि इन का सम्बन्ध पुरातन पहाड़ों के समान दृढ़ और स्थिर रहेगा। कन्या वर के साथ दासी के रूप में नहीं जाती। वह उस के बराबर पद रखती है। उस की अनुचरा नहीं, सहकर्मिणी है, वर-पत्नी कहते हैं:

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समानो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥

(सूर्याविवाह प्रकरण, ऋ० १०।८५।४७)

"विश्वेदेव और अप अभिमानी देवता हम दोनों के हृदयों को सब

विषयों में प्रकाशयुक्त करें। मातरिश्वा, धाता और देष्ट्री (सरस्वती) हम दोनों की बुद्धियों को परस्परानुकूला बनायें।"

आपस के समझौते के साक्षी देवगण होते हैं। अन्त में सप्तपदी आती है। अग्निदेव, जिन की वैदिक उपाधि ही व्रतपति है, वर-कन्या के नव-स्थापित सम्बन्ध को अपनी मुद्रा से अंकित कर के उन को पति-पत्नी बना देते हैं। हमारा आदर्श यह है कि इस सम्बन्ध को मृत्यु भी नहीं तोड़ सकती।

सारे कृत्य के अन्त में उपस्थित लोगों से प्रार्थना की जाती है कि दम्पती को आशीर्वाद दें। जो शब्द सूर्या के विवाह के अवसर पर उच्चरित हुए थे वही आज भी पढ़े जाते हैं :

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन॥

"यह वधू सुमंगली, मंगलमयी है, इस को सब लोग साथ देखें और इस को सौभाग्य दे कर अपने-अपने घर लौट जायें।"

देवों और मनुष्यों के सामने, दोनों का आशीर्वाद पा कर, विवाह सम्पन्न हुआ।

देवगण मनुष्यों के अग्रज, बड़े भाई हैं। वह भी कभी मनुष्य थे। अपने उग्र तप और यज्ञसम्पादन के प्रसाद से आज जगत् का संचालन कर रहे हैं। अनिद्रभाव से वह मनुष्यों के चरित्र देखते रहते हैं। पुण्य-कर्मा को प्रोत्साहन देने, धर्ममार्ग से डिगते हुए को सहारा देने, विवेक की टिमटिमाती शिखा को स्नेहदान से उद्दीप्त करने में वह अपने को धन्य मानते हैं। वह दण्ड भी देते हैं परन्तु उसी प्रकार जैसे माता और गुरु दण्ड देते हैं। उस दण्ड में भी प्यार छिपा होता है। पितृगण हमारे पूर्वज हैं। वह चाहते हैं कि उन के वंशज सन्मार्ग पर चलें, यश के भागी हों, पितरों की कीर्ति का भी विस्तार करें। अधर्मी वंशजों के कुकृत्य पितरों को ही नीचे गिराते हैं। ऋषियों ने हम को ऋत और सत्य की, चतुर्वर्ग

को प्राप्त करने की, शिक्षा दी है। स्वभावतः उन की यह इच्छा होगी कि उन का बताया मार्ग वन्द न हो जाये। ज्ञान की जो दीपशिखा उन्होंने प्रज्वलित की थी वह बुझने न पाये। जो मनुष्य अपने धर्म का अनुसरण करता है वह देवों, पितरों और ऋषियों को प्रसन्न करता है, उन्होंने मानव समाज पर जो उपकार किये हैं उन को दूसरों तक पहुँचा कर उन से उऋण होता है। ईश्वर सत्य, शिव और सुन्दर है, प्रेम और आनन्द-स्वरूप है। इसी लिए कन्यादान का प्राचीन संकल्प कहता है कन्या वर को 'धर्म्मप्रजासम्पत्त्यर्थं यज्ञापत्यर्थं' के साथ-साथ 'ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थं' दी जाती है। कन्या से धर्मप्रजा की सम्पत्ति और यज्ञ का सम्पादन होता है और इस से ईश्वर, देव, ऋषि और पितृ तृप्त होते हैं।

कहाँ यह उत्तुंग मेरुशिखर और कहाँ वर्तमान काल! कितना पतन हुआ है। हिन्दू समाज के मर्मस्थानों को जैसे विषशलाका भेदन कर गयी है, ऊँचे आदर्शों तक आँख उठाने की हम में क्षमता नहीं रह गयी। पिछले एक हज़ार वर्षों की राजनीतिक दासता का यह कड़वा फल है। यहीं आश्चर्य की बात है कि कुछ अवशेष रह गये हैं, जिन के सहारे हम फिर प्राचीन युग की खोई बातों का पता लगा सकते हैं।

कन्यादान-सम्बन्धी जो दुर्व्यवस्था हुई है उस का मुख्य कारण मेरी समझ में दान शब्द का प्रयोग है। प्राचीन आचार्यों से यह भूल हो गयी। कभी-कभी ऐसी भूलों का बुरा परिणाम होता है। विज्ञान और दर्शन में तो इस के उदाहरण भरे पड़े हैं। एक ही निदर्शन अलम् है। कभी किसी ने प्राण के लिए वायु शब्द का प्रयोग कर दिया। कुछ ऊपरी साम्य देख कर ही यह भूल हो गयी। बस, फिर उस भूल को सुधारना तो दूर रहा, जो आया इंट पर इंट रखता गया। पाण्डित्यपूर्ण मूर्खता से पुस्तकालय भर गये। नाड़ियों में छिद्र ढूँढ़े गये, हवा भर कर कपाल फोड़ने वाले योगियों की कहानियाँ सुनी जाने लगीं। कहाँ वह दिव्य शक्ति जो भौतिक और आध्यात्मिक अनेक रूपों से शरीर का संचालन कर रही है, जो

रसायन, भौतिकविज्ञान, चिकित्साविज्ञान और मनोविज्ञान का विषय है और इन सब से वाहर है, और कहाँ क्षुद्र हवा जो भूस्तत्त्व का एक भेद है ! ऐसी ही भूल दान के विषय में भी हुई होगी। उस भूल का फल हम सब भोग रहे हैं। इतना ही नहीं, वट वृक्ष के समान भूल का कलेवर बढ़ता ही गया है।

दान शब्द का व्यवहार प्रायः उस प्रसंग में किया जाता है जहाँ किसी के कष्ट निवारणार्थ उसे कुछ दिया जाता है। अन्न, वस्त्र, भूमि का दान होता है, विद्यादान और अभयदान किया जाता है। किसी वराबर वाले मित्र को कुछ देना भले ही दान कहलाये परन्तु साधारणतः व्यवहार वही है जिस की ओर मैं ने संकेत किया है। ऐसा दान शुद्ध निष्काम भाव से ईश्वरार्पण कर के दिया जा सकता है परन्तु बहुधा दान सकाम ही होता है। यह नहीं कि देने वाले दान पाने वाले से प्रत्युपकार की आशा रखते हैं परन्तु यह विश्वास रहता है कि कभी न कभी, कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में, इस सत्कर्म का पुरस्कार मिलेगा। कर्म का सत्यसिद्धान्त कहिए, ईश्वर कहिए, नियति कहिए, कोई ऐसी शक्ति है जो भले-बुरे कामों का लेखा रखती है।

यदि कन्या का दान हो सकता है तो इस दान से दाता को लाभ होना चाहिए। इस जन्म में और इस शरीर से तो कोई प्रत्यक्ष लाभ होता नहीं। अतः पुण्य का संचय होता होगा। जब कर्ता दान करता है तो उसे पुण्य पर दृष्टि रखने का अधिकार तो है ही, न रखे यह उस की उदारता होगी। बार-बार कन्यादान की महिमा जतायी गयी है, कन्या का विवाह न करने के पाप की ओर संकेत किया गया है, इस से यह तो प्रतीत होता ही है कि काम बड़ा है। इस से पुण्य भी बड़ा होगा। अतः दाता के बीस-पचीस कुटुम्बी उस पुण्य में भाग पा जायें तो अनुचित न होगा।

तर्क की यह धारा ज्यों-ज्यों आगे बढ़ी बुद्धि पीछे छूटती गयी।

केवल एक झीनी-सी रेखा रह गयी। सप्तपदी के पहले वर के मर जाने पर कन्या के फिर से ब्याहे जाने की अनुमति बच रही। लड़की के घर का पानी पीना त्याज्य हो गया। जिस प्रकार भूमि या गऊ या कोई और दान पा कर ब्राह्मण दक्षिणा पाता है उसी प्रकार कन्यादान के बाद वर को भी दक्षिणा मिलने लगी। यह कोई नहीं देखता कि कन्यादान के इस रूप का शेष पद्धति से कहाँ तक सामंजस्य है। अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य का दान करना मानवता की मर्यादा से नीचे गिरना है। मनुष्य को पशु-पक्षी की भाँति देय वस्तु समझना पाप है। विवाह को वर-वधू और उन की सन्तति के हित का साधन न मान कर अपने हित का साधन मानना अनार्य है। संस्कार धर्म के विकास और प्रसार के लिए, नररूपी नारायण की सेवा के लिए किये जाते हैं, कर्ता के निकृष्ट स्वार्थ की सिद्धि के लिए नहीं। परन्तु इन बातों को कोई सोचता नहीं। मूर्ख और पण्डित सब आँख बन्द कर के लकीर पीटते चले जा रहे हैं।

एक गऊ कई ब्राह्मणों में तो नहीं बाँटी जा सकती परन्तु कई मनुष्य मिल कर एक गऊ का दान कर सकते हैं। कुम्भस्नान और ग्रहण के अवसर पर तीर्थस्थानों में यह दृश्य बराबर देख पड़ता है। ब्राह्मण गऊ लिये खड़ा रहता है। लोग उस की पूँछ पकड़ कर दान देते जाते हैं। सब को पुण्य मिलता ही होगा। इसी प्रकार एक-एक कन्या का कभी-कभी बीसों स्त्री-पुरुष दान करते हैं। मानना चाहिए कि सब के ही हाथ कुछ पुण्य लग रहता होगा।

मैं किसी की श्रद्धा का उपहास नहीं करना चाहता परन्तु यह कहना चाहता हूँ कि इस श्रद्धा के लिए शास्त्रीय आधार नहीं है। पिछले एक सहस्र वर्ष हमारे लिए बुरे बीते हैं। राजनीतिक दासता जीवन को कृत्रिम बना देती है। स्त्रियों को इस काल में प्रकृत्या संकुचित हो कर रहना पड़ा है, उन के व्यक्तित्व के प्रस्फुटित होने के अवसर कम मिले हैं। अतः समाज में उन का स्तर गिरता गया। हम एक अवतरण पहले

दे चुके हैं जिस के अनुसार कन्या को गउओं, बैलों और घोड़ों से बदला जा सकता है। एक अन्य स्मृति में कन्या, जूता और छाता के दान का एक ही जगह उल्लेख किया गया है। यदि स्मृतिकार महोदय की दृष्टि में स्त्रियों का आदर होता तो वह दूसरे श्लोक की रचना करते पर कन्या को इतना नीचे न गिराते।

अब इन बातों पर विचार करने का समय आ गया है। हमारे धर्म-कृत्यों और संस्कारों में बहुत-सा प्रक्षिप्तांश मिल गया है, उस को निकाल कर दूर फेंकना ही श्रेयस्कर होगा। हमारे आदर्श और उन के दार्शनिक आधार प्राचीन परन्तु इस के साथ ही चिरनवीन हैं। उन में स्फूर्ति देने की अद्भुत शक्ति है, उन के शुद्ध रूप का अवलम्बन करना हमारे लिए कल्याणकारी होगा।

आधार-पुस्तकों की सूची

गृह्यसूत्र

१. मानव गृह्यसूत्र, अष्टवक्रभाषासमेत
२. जैमिनि गृह्यसूत्र, श्रीनिवासी अध्वरिन्भाष्यसमेत
३. वाराह गृह्यसूत्र, गंगाधर और वशिष्ठ पद्धतियोंसमेत
४. पारस्कर गृह्यसूत्र, हरिहर, कर्क, जयराम, गदाधर और विश्वनाथ के भाष्योंसमेत
५. लौगाक्षि गृह्यसूत्र, देवपालभाष्यसमेत
६. द्राह्यायण गृह्यसूत्र, रुद्रस्कन्द वृत्तिसमेत
७. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, हरदत्त और सुदर्शनार्य्य भाष्यसमेत
८. आश्वलायन गृह्यसूत्र, हरदत्त मिश्र की अनाविलवृत्तिसमेत
९. कौषीतक गृह्यसूत्र, भवत्रातविवरणसमेत
१०. अग्निवेश्य गृह्यसूत्र
११. गोभिल गृह्यसूत्र
१२. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र
१३. खादिर गृह्यसूत्र, रुद्रस्कन्दभाष्यसमेत
१४. बोधायनीय गृह्यसूत्र
१५. वैखानस गृह्यसूत्र
१६. सांख्यायन गृह्यसूत्र संग्रह, वासुदेव विद्वद्वरविरचित

धर्मसूत्र

१. गौतम धर्मसूत्र, हरदत्त की मिताक्षरा वृत्तिसमेत

२. बोधायन धर्मसूत्र, गोविन्दस्वामी विवरणसमेत
३. वाशिष्ठ धर्मसूत्र

स्मृति

१. बृहस्पतिस्मृति
२. संवर्तस्मृति
३. वशिष्ठस्मृति
४. पराशरस्मृति, माधव भाष्यसमेत
५. यमस्मृति
६. मनुस्मृति, कुल्लूकभट्ट भाष्यसमेत
७. याज्ञवल्क्यस्मृति, मिताक्षरा टीकासमेत
८. नारदस्मृति

फुटकर

१. संस्कार गणपति, रामकृष्णकृत
२. कृत्यकल्पतरु, भट्ट लक्ष्मीधरकृत
३. वीरमित्रोदय, मित्रमिश्रकृत
४. दानक्रियाकौमुदी, गोविन्दानन्दकृत
५. हेमादि दान खण्ड
६. संस्कारपद्धति, भास्कर अभ्यंकरकृत
७. संस्कारविधि, स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत
८. हिन्दू किन्‌शिप, क० म० कपाडियाकृत
९. दि पोजिशन ऑव विमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन, डॉ० आल्टे-करकृत
१०. ए शार्ट हिस्टरी ऑव विमेन, जे० एल० डेयर्सकृत
११. एन्शेण्ट ला, मेनकृत
१२. हिन्दू परिवार की मीमांसा, हरिदत्त वेदालंकारकृत

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक - हितकारी
मौलिक-साहित्य का निर्माण

●

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

●

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५